* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य १० रुपये
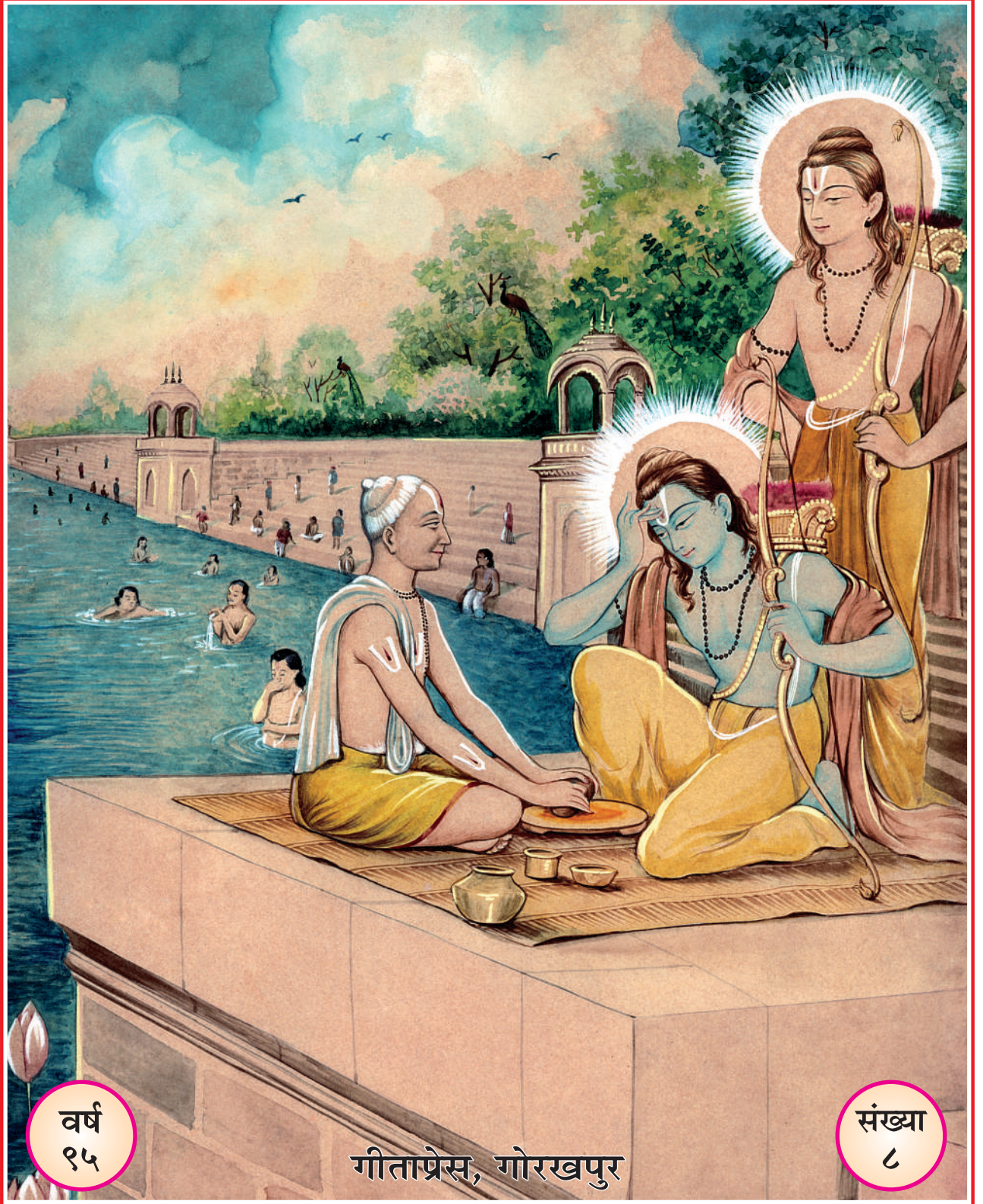
चित्रकूटमें गोस्वामी तुलसीदासजीको श्रीरामदर्शन

भगवान् श्रीबालकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
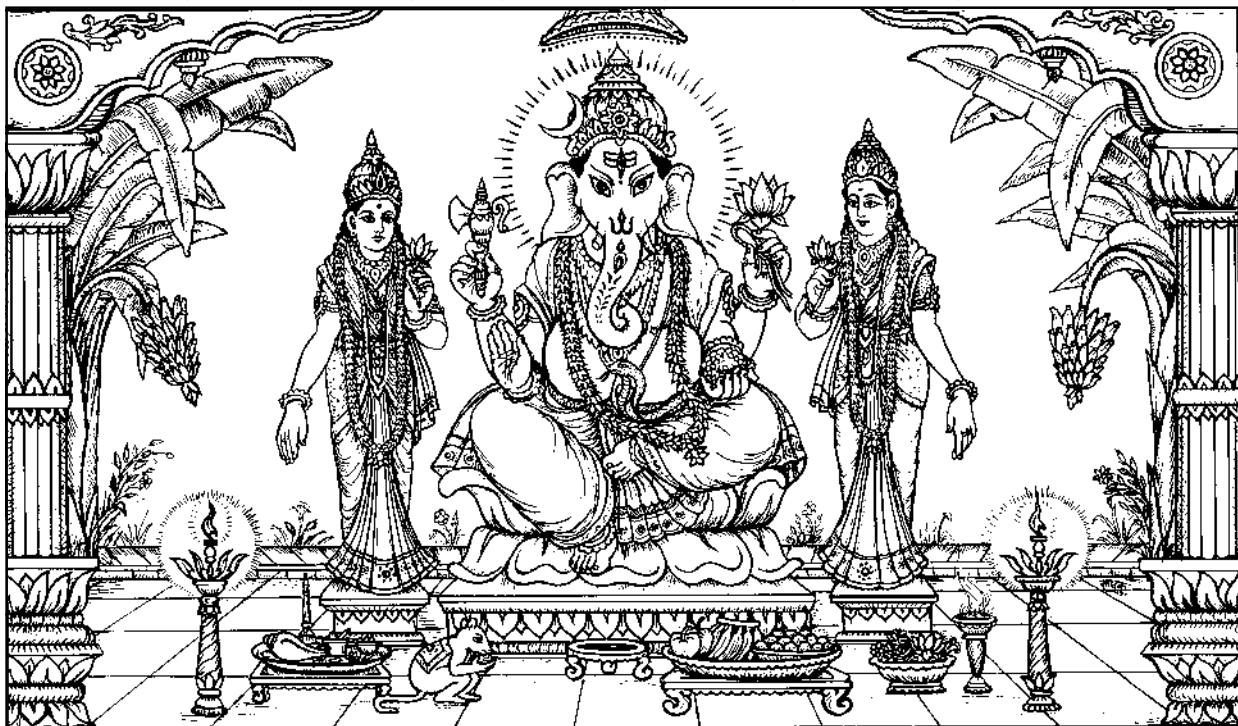
कल्याण

यतो वेदवाचो विकुण्ठा मनोभिः सदा नेति नेतीति यत्ता गृणन्ति।
परब्रह्मरूपं चिदानन्दभूतं सदा तं गणेशं नमामो भजामः॥

वर्ष ९५

गोरखपुर, सौर भाद्रपद, वि० सं० २०७८, श्रीकृष्ण-सं० ५२४७, अगस्त २०२१ ई०

संख्या ८

पूर्ण संख्या ११३७

भगवान् श्रीबालकृष्णकी वन्दना

हस्ताङ्घ्रिनिक्वणितकङ्कणकिङ्किणीकं
मध्येनितम्बमवलम्बितहेमसूत्रम्।
मुक्ताकलापमुकुलीकृतकाकपक्षं
वन्दामहे व्रजचरं वसुदेवभाग्यम्॥

उनके हाथोंमें कंगन और चरणोंमें नूपुर खन-खन कर रहे हैं। नितम्बभागमें सोनेकी करधनी सुशोभित है। सिरके बालोंमें मोतीकी लड़ियाँ गुँथी हुई हैं। श्रीकृष्ण क्या हैं—मानो वसुदेवका भाग्य ही मूर्तिमान् होकर व्रजमें क्रीडा कर रहा है। उन व्रजविहारी भगवान् श्रीकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,००,०००)

कल्याण, सौर भाद्रपद, वि० सं० २०७८, श्रीकृष्ण-सं० ५२४७, अगस्त २०२१ ई०, वर्ष ९५—अंक ८

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क
₹ २५०

पंचवर्षीय शुल्क
₹ १२५०

विदेशमें Air Mail **शुल्क** — **वार्षिक** US$ 50 (₹ 3,000), **पंचवर्षीय** US$ 250 (₹ 15,000) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**
आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**
सम्पादक—**प्रेमप्रकाश लक्कड़**

केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **gitapress.org** | e-mail : **kalyan@gitapress.org** | ✆ **09235400242 / 244**

सदस्यता-शुल्क—**व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।**
Online सदस्यता हेतु gitapress.org पर **Kalyan** या **Kalyan Subscription** option पर click करें।
अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क gitapress.org अथवा **book.gitapress.org** पर निःशुल्क पढ़ें।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।

॥ श्रीहरिः ॥

इन्द्रिय-निग्रह सभी साधकोंके लिये समान रूपसे महत्त्वपूर्ण है। इसके अभावमें मनकी चंचलतापर नियन्त्रण सम्भव नहीं है।

इस विषयमें अनुभवी मनीषियोंका मत है कि सभी इन्द्रियोंमें जिह्वापर नियन्त्रणसे प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है। जिह्वा (जीभ) वाणीके रूपमें कर्मेन्द्रिय है और रसना (स्वाद ग्रहण करने)-के रूपमें ज्ञानेन्द्रिय है। इस प्रकार इस एक इन्द्रियके नियन्त्रणसे दोपर नियन्त्रण हो जाता है।

वाणीपर नियन्त्रणका अर्थ है अनावश्यक बोलनेसे परहेज। कुछ भी बोलनेसे पहले एक क्षण रुककर सोच लेना चाहिये कि बोलना आवश्यक है या नहीं। यथासम्भव मधुर वचनोंका प्रयोग करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

रसनापर नियन्त्रणका प्रारम्भ सात्त्विक भोजन और स्वादकी दासतासे छुटकारा पानेके संकल्पसे होता है। भगवत्कृपासे संकल्प और आत्मबलमें वृद्धि होकर साधकको निश्चय ही सफलता प्राप्त हो जाती है।

—सम्पादक

हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे
हरे कृष्ण हरे
हरे राम हरे

कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।
कृष्ण हरे हरे॥
राम हरे हरे।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

कल्याण

याद रखो—ये सब अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भगवान्‌की लीला हैं। भगवान् ही सबके उपादान-कारण हैं और भगवान् ही निमित्तकारण हैं। वे अपने-आपसे ही अपने-आपमें अपने-आपके स्वरूपभूत लीला-उपादानोंसे लीला कर रहे हैं। भगवान्‌की यह लीला अनादि है।

याद रखो—भगवान्‌के तीन स्वरूप मुख्य हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। निर्गुण-निराकार ब्रह्म हैं, सगुण-निराकार परमात्मा हैं और सगुण-साकार भगवान् हैं। भगवान् तत्त्वस्वरूपसे नित्य एक हैं। उनका सगुण-साकार स्वरूप भी निर्गुण-निराकार ही है; क्योंकि वह प्राकृतिक तथा पंचभूतात्मक न होकर भगवत्स्वरूप ही है।

याद रखो—एक ही भगवान् श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, महादेवी दुर्गा आदि रूपोंमें नित्य लीलायमान हैं।

याद रखो—वे ही स्वयं चेतन-आत्मारूपसे जीवमात्रमें स्थित हैं। भगवान्‌की दृष्टिसे भगवान्‌के सिवा कुछ भी न है, न होता है; परंतु उन्हींकी लीलासे एक ही आत्मा अनन्त विविध विचित्र रूपोंमें 'प्रकृतिस्थ' जीवात्माके रूपमें वर्तमान है, जो प्रकृति-परवशताके कारण विभिन्न कर्म करता, विभिन्न सुख-दुःखोंको भोगता तथा विभिन्न योनियोंमें लोक-परलोकमें भ्रमण करता है।

याद रखो—जबतक पुरुष 'प्रकृतिस्थ' है, तबतक उसका बार-बार जन्म-मरण होकर परलोक तथा पुनर्जन्मको प्राप्त होना अनिवार्य है। भगवान्‌की अनन्यभक्ति अथवा तत्त्वज्ञानसे जब प्रकृति-सम्बन्ध छूट जाता है, तब जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति मिल जाती है और भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। यही 'स्वस्थ' स्थिति है।

याद रखो—मुक्तिके दो स्वरूप हैं—कैवल्य मुक्ति या नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप भगवद्धामकी प्राप्ति। भगवद्धामकी प्राप्तिमें भी सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य आदि कई भेद हैं। प्रेमी भक्तगण इन मुक्तियोंमें किसीको स्वीकार न कर, प्रकृतिसे अतीत दिव्य 'भगवत्तत्त्वमय' प्राण, मन, देह आदिसे युक्त प्रकृति-मुक्त स्थितिमें, नित्य-निरन्तर भगवत्सेवापरायण होकर अलौकिक भगवद्धाममें रहते हैं। ज्ञानी पुरुषके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, उसको तत्काल 'कैवल्य मुक्ति' मिल जाती है। यह 'सद्योमुक्ति' है। दूसरे ज्ञानपरायण तथा भक्तपुरुष देवयानमार्गसे जाकर क्रमशः मुक्त हो जाते हैं। ये भी वापस नहीं लौटते। पुण्यात्माजन पितृयाणमार्गसे जाकर स्वर्गादि लोकोंमें वहाँके भोग भोगकर, पुण्य समाप्त होनेपर फिर मर्त्यलोकमें लौट आते हैं।

याद रखो—भगवान्‌के वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास, देवीद्वीप आदि सभी एक ही महान् भगवत्स्वरूप नित्य परमधामके विभिन्न स्वरूप हैं, जो अनादि हैं तथा नित्य हैं। भगवान्‌की दो विभूतियाँ हैं—एकपाद्विभूति और त्रिपाद्विभूति। अनन्तकोटि विभिन्न ब्रह्माण्डोंसे युक्त प्रकृति एकपाद्विभूतिमें है। भगवान्‌का दिव्य परमधाम त्रिपाद्विभूतिमें है। यह प्रकृतिसे सर्वथा परे, इस लोकके सूर्य, चन्द्र और अग्निको सूर्यत्व, चन्द्रत्व और अग्नित्व प्रदान करनेवाला, अनन्तकोटि दिव्य सूर्य, चन्द्र, अग्निकी ज्योतिर्मय शीतल स्निग्ध प्रभासे विभूषित, प्रलयहीन, अमृत, अनन्त, शाश्वत, शुद्ध सत्त्वमय, अज, अक्षर तथा परम सौन्दर्यनिकेतन परमानन्दधाम है। वह सभी दशाओं, स्थितियों और आवरणोंसे मुक्त है। अतएव प्रकृति-राज्यसे सर्वथा अतीत विशुद्ध भगवद्-राज्यमें प्रवेश होनेपर ही इनका रहस्य, रूप और तत्त्व समझमें आ सकता है। प्राकृतिक बुद्धि वहाँतक पहुँच ही नहीं सकती। **'शिव'**

आवरणचित्र-परिचय—

गोस्वामी तुलसीदासजी

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका जन्म विक्रम सम्वत् १५५४ की श्रावण शुक्ल सप्तमीको हुआ था—ऐसा विभिन्न स्रोतोंसे प्रमाणित होता है। इनके पिताका नाम श्रीआत्माराम दूबे तथा माताका नाम हुलसी था। जन्मके समय ये रोये नहीं थे और इनके मुखसे राम-नामका साफ उच्चारण हुआ था। इनका जन्म अभुक्त मूल नक्षत्रमें हुआ था और आकार-प्रकार पाँच वर्षके बालक जैसा था। ज्योतिषियोंने अभुक्त मूलमें जन्म लेनेके कारण इन्हें माता-पिताके लिये अनिष्टप्रद बताया। बालकके अनिष्टकी आशंकासे इनकी माताने इन्हें अपनी दासी चुनियाँके साथ उसकी ससुराल भेज दिया और दूसरे ही दिन इन असार संसारसे चल बसीं। चुनियाँने बड़े ही प्रेमसे इनका लालन-पालन किया, किंतु जब इनकी अवस्था साढ़े पाँच वर्षकी थी, तब चुनियाँ भी भगवान्‌को प्यारी हो गयी। ये अनाथ होकर द्वार-द्वार भटकने लगे। उस समय भगवती पार्वनतीने परोक्ष रूपसे इनका पालन-पोषण किया।

कालान्तरमें भगवान् शंकरकी प्रेरणासे स्वामी नरहर्यानन्दजी इन्हें अयोध्या ले गये और यज्ञोपवीत-संस्कार करके इनका नाम रामबोला रखा। इनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी। ये अपने गुरुसे जो भी सुनते, तत्काल कण्ठस्थ कर लेते थे। अयोध्यासे अपने गुरु श्रीनरहरिदासजीके साथ ये सोरो आये, जहाँ गुरुमुखसे इन्हें पवित्र रामकथा-श्रवण करनेका अवसर मिला। तदनन्तर काशी जाकर इन्होंने श्रीशेषसनातनजीसे पन्द्रह वर्षोंतक वेद-शास्त्रोंका गम्भीर अध्ययन किया।

गोस्वामीजीका विवाह भारद्वाज गोत्रकी एक सुन्दर ब्राह्मणकन्या रत्नावलीसे हुआ था। एक दिन इनकी पत्नी अपने भाईके साथ अपने मायके चली गयी। पत्नीमें अत्यधिक आसक्तिके कारण ये भी उसके पीछे-पीछे ससुराल पहुँच गये। इसपर इनकी पत्नीने इन्हें धिक्कारते हुए कहा कि 'जितना प्रेम तुम मेरे हाड़-मांसके शरीरसे करते हो, उसका आधा भी यदि भगवान्‌से कर सको तो तुम्हारा कल्याण हो जायगा।' पत्नीकी कटु किंतु सत्य बातने उन्हें वैराग्यका पथ दिखाया। वहाँसे ये सीधे प्रयाग आये और विरक्त हो गये।

गोस्वामीजी शौचके लिये नित्य गंगापार जाया करते थे और लौटते समय लोटेका बचा हुआ जल एक वृक्षकी जड़में डाल दिया करते थे। उस पेड़पर एक प्रेत रहता था। उसने गोस्वामीजीसे संतुष्ट होकर वर माँगनेके लिये कहा। इन्होंने उससे भगवान् श्रीरामके दर्शनकी लालसा प्रकट की। प्रेतने इन्हें श्रीहनुमान्‌जीकी कृपाका अवलम्ब लेनेकी सलाह दी। एक दिन एक सत्संगमें इन्हें श्रीहनुमान्‌जीका साक्षात्कार हुआ। हनुमान्‌जीने चित्रकूटमें भगवान्‌का दर्शन करानेका इन्हें आश्वासन दिया। चित्रकूटके घाटपर बैठकर श्रीगोस्वामीजी चन्दन घिस रहे थे। इतनेमें भगवान् सामने आ गये और इनसे चन्दन माँगा। गोस्वामीजीकी जन्म-जन्मान्तरकी इच्छा पूरी हो गयी। इन्हें भगवान् श्रीरामके अनुपम रूपका साक्षात्कार हुआ। श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञासे इन्होंने विक्रम संवत् १६३१ की चैत्र शुक्ल रामनवमी, मंगलवारको श्रीरामचरित-मानसका प्रणयन प्रारम्भ किया। दो वर्ष सात माह छब्बीस दिनमें यह ग्रन्थ तैयार हुआ। न्याय और वेदान्तके प्रसिद्ध विद्वान् परमभक्त श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने आपकी प्रशंसामें कहा है—

आनन्दकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूषिता॥

अर्थात् 'काशीरूपी आनन्दवनमें तुलसीदास चलता-फिरता तुलसीका पौधा है। उसकी कवितारूपी मंजरी बड़ी ही सुन्दर है, जिसपर श्रीरामरूपी भँवरा सदा मँडराया करता है।'

आपके जीवनमें भगवत्कृपासे अनेक चमत्कार हुए। आपने श्रीरामचरितमानसके अतिरिक्त विनयपत्रिका, दोहावली, कवितावली, गीतावली आदि अनेक भक्तिपरक ग्रन्थोंका प्रणयन किया और विक्रम सम्वत् १६८० की श्रावण कृष्ण तृतीया, शनिवारको राम-राम कहते हुए अपने नश्वर देहका त्याग किया।

इस बार तुलसी-जयन्ती श्रावण शुक्ल सप्तमी (तदनुसार १५ अगस्त २०२१)-को है। इस अवसरपर हम सभी रामभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजको नमन करते हैं।

भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत-से लोग कहा करते हैं कि यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी भगवान् हमें दर्शन नहीं देते। ये लोग भगवान्को 'निष्ठुर', 'कठोर' आदि शब्दोंसे सम्बोधित किया करते हैं तथा ऐसा मान बैठे हैं कि उनका हृदय वज्रका-सा है और वे कभी पिघलते ही नहीं। उन्हें क्या पड़ी है कि वे हमारी सुध लें, हमें दर्शन दें और हमें अपनायें—ऐसी ही शिकायत बहुत-से लोगोंकी रहती है।

परंतु बात है बिल्कुल उलटी। हमारे ऊपर प्रभुकी अपार कृपा है। वे देखते रहते हैं कि जरा भी गुंजाइश हो तो मैं प्रकट होऊँ, थोड़ा भी मौका मिले तो भक्तको दर्शन दूँ। साधनाके पथमें वे पद-पदपर हमारी सहायता करते रहते हैं। लोकमें भी यह देखा जाता है कि जहाँ विशेष टान (खिंचाव) होती है, जिस पुरुषका हमारे प्रति विशेष आकर्षण होता है, उनके पास और सब काम छोड़कर भी हमें जाना पड़ता है। जहाँ नहीं जाना होता, वहाँ प्राय: यही मानना चाहिये कि प्रेमकी कमी है। जब हम साधारण मनुष्योंकी भी यह हालत है, तब भगवान् जो प्रेम और दयाके अथाह सागर हैं, यदि थोड़ा प्रेम होनेपर भी हमें दर्शन देनेके लिये तैयार रहें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्के प्रकट होनेमें जो विलम्ब हो रहा है, उसमें मुख्य कारण हमारी टानकी कमी ही है। प्रभु तो प्रेम और दयाकी मूर्ति ही हैं। फिर वे आनेमें विलम्ब क्यों करते हैं? कारण स्पष्ट है। हम उनके दर्शनके योग्य नहीं हैं। हममें अभी श्रद्धा और प्रेमकी बहुत कमी है। यदि हम उसके योग्य होते तो भगवान् स्वयं आकर हमें दर्शन देते; क्योंकि भगवान् परम दयालु, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी हैं; किंतु हमारे भीतर उनके प्रति श्रद्धा और प्रेमकी बहुत ही कमी है। अतएव श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धिके लिये हमें उनके तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको जाननेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्में श्रद्धा और प्रेम हो जानेपर वे न मिलें, ऐसा कभी हो नहीं सकता। बाध्य होकर भगवान् अपने श्रद्धालु भक्तकी श्रद्धाको फलीभूत करते ही हैं। जबतक उनकी कृपापर पूरा विश्वास नहीं होता, तबतक प्रभुका प्रसाद हमें कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि हमारा यह विश्वास हो जाय कि भगवान्के दर्शन होते हैं और अमुक व्यक्तिने भगवान्के दर्शन किये हैं तो उसके साथ हमारा व्यवहार कैसा होगा—इसका भी हमलोग अनुमान नहीं कर सकते। फिर स्वयं भगवान्के मिलनेसे जो दशा होती है, उसका तो अटकल लगाना ही असम्भव है।

रासलीलाके समय भगवान्के अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंकी कैसी दशा हुई? एक क्षणके लिये भी उन्हें भगवान्का वियोग असह्य हो गया, अतएव बाध्य होकर भगवान्को प्रकट होना पड़ा। दुर्वासाके दस हजार शिष्योंसहित भोजनके लिये असमयमें उपस्थित होनेपर उन्हें भोजन करानेका कोई उपाय न दीखनेपर द्रौपदी व्याकुल होकर भगवान्का स्मरण करने लगी और उसके पुकारते ही भगवान् इस प्रकार प्रकट हो गये जैसे मानो वहीं खड़े हों। विश्वास होनेसे प्राय: यही अवस्था सभी भक्तोंकी होती है। भक्त नरसी मेहताको दृढ़ विश्वास था कि उनकी लड़कीका भात भरनेके लिये हरि आयेंगे ही और वे मगन होकर गाने लगे।

बाई आसी आसी आसी, हरि भणै भूरोसे आसी।

हरिके आनेमें उन्हें तनिक भी शंका नहीं थी, अतएव भगवान्को समयपर आना ही पड़ा।

भगवान्के दर्शनमें जो विलम्ब हो रहा है, उसका एकमात्र कारण दृढ़ श्रद्धा-विश्वासका अभाव ही है। चाहे जिस प्रकार निश्चय हो जाय, निश्चय हो जानेपर भगवान् न आवें, ऐसा हो नहीं सकता। वे अपने भक्तको निराश नहीं करते, यही उनका बाना है। यह दूसरी बात है कि बीच-बीचमें हमारे मार्गमें ऐसे विघ्न आ खड़े हों, जिनके कारण हमारा मन विचलित-सा हो जाय। परंतु यदि साधक उस समय सँभलकर प्रभुको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहे और विघ्नोंसे प्रह्लादकी भाँति न घबराये तो उसका काम अवश्य ही बन जाता है। प्रभु तो हमारी

श्रद्धाको पक्की करनेके लिये ही कभी निष्ठुर और कभी कोमल व्यवहार और व्यवस्था किया करते हैं।

वास्तविक श्रद्धा इतनी बलवती होती है कि भगवान्‌को बाध्य होकर उस श्रद्धाको फलीभूत करनेके लिये प्रकट होना पड़ता है। पारस यदि पारस है और लोहा यदि लोहा होता है तो स्पर्श होनेपर सोना होगा ही। इसी प्रकार श्रद्धावान्‌को भगवान्‌की प्राप्ति होती ही है। श्रद्धालु भक्तकी कमीकी पूर्तिकर भगवान् उसके कार्यको सिद्ध कर देते हैं। श्रद्धा होनेपर सारी कमीकी पूर्ति भगवान्‌की कृपासे अपने-आप हो जाती है। हमलोगोंमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी मालूम होती है, इसलिये भगवान् प्रकट नहीं होते; अन्यथा उनके दयालु और प्रेमपूर्ण स्वभावको देखते हुए तो वे दर्शन दिये बिना रह सकें—ऐसा हो नहीं सकता। रावणके द्वारा सीताके हरे जानेपर उनके लिये श्रीराम ऐसे व्याकुल होते हैं, जैसे कोई कामी पुरुष अपनी प्रेयसीके लिये होता है। इसका कारण क्या था? कारण यही था कि सीता एक क्षणके लिये भी रामके बिना नहीं रह सकती थीं। भगवान् कहते हैं—'जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं भी वैसे ही भजता हूँ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

भगवान् तो प्रकट होनेके लिये तैयार हैं। वे मानो चाहते हैं कि लोग मुझसे प्रेम करें और मैं प्रकट होऊँ। सीताका जैसा उत्कट प्रेम भगवान् रामचन्द्रमें था वैसा ही प्रेम यदि हमलोगोंका प्रभुमें हो जाय तो प्रभु हमारे लिये भी तैयार हैं। जो हरिके लिये लालायित है, उसके लिये हरि भी वैसे ही लालायित रहते हैं।

प्रभुमें श्रद्धा-प्रेम बढ़े, उनका चिन्तन बना रहे—एक पलके लिये भी उनका विस्मरण न हो, ऐसा ही लक्ष्य हमारा सदा बना रहना चाहिये। हमें वे चाहे जैसे रखें और चाहे जहाँ रखें, उनकी स्मृति अटल बनी रहनी चाहिये। उनकी राजीमें ही अपनी राजी, उनके सुखमें ही अपना सुख मानना चाहिये। प्रभु यदि हमें नरकमें रखना चाहें तो हमें वैकुण्ठकी ओर भी नहीं ताकना चाहिये और नरकमें वास करनेमें ही परम आनन्द मानना चाहिये। सब प्रकारसे प्रभुके शरण हो जानेपर फिर उनसे इच्छा या याचना करना नहीं बन सकता। जब प्रभु हमारे और हम प्रभुके हो गये तो फिर बाकी ही क्या रहा? हम तो प्रभुके बालक हैं। माँ बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं देती। उसके हृदयमें बालकके लिये अपार प्यार रहता है। प्रभु यदि हमारे दोषोंका ख्याल करें तो हमारा कहीं पता ही न लगे। प्रभु तो इस बातके लिये सदा उत्सुक रहते हैं कि कोई रास्ता मिले तो मैं प्रकट होऊँ; किंतु हमीं लोग उनके प्रकट होनेमें बाधक हो रहे हैं। देखनेमें तो ऐसी बात नहीं मालूम होती, ऊपरसे हम उनके दर्शनके लिये लालायित-से दीखते हैं, परंतु भीतरसे उन्हें पानेकी लालसा कहाँ है?

मुँहसे हम भले ही न कहें कि अभी ठहरो, परंतु हमारी क्रियासे यही सिद्ध होता है। प्रभुके प्रकट होनेमें विलम्ब सहन करना ही उन्हें ठहराना है। प्रभुसे हमारा बिछोह इसीलिये हो रहा है कि उनके वियोगमें (बिछोहमें) हमें व्याकुलता नहीं होती। जब हम ही उनका वियोग सहनेके लिये तैयार हैं और कभी उनके वियोगमें हमारे मनमें व्याकुलता या दु:ख नहीं होता, तब प्रभुको ही क्यों परवा होने लगी? यदि हमारे भीतर तड़पन होती और इसपर भी वे न आते तो हमें कहनेके लिये गुंजाइश थी। खुशीसे हम उनके बिना जी रहे हैं। इस हालतमें वे यदि न आयें तो इसमें उनका क्या दोष है? प्रकट होनेके लिये तो वे तैयार हैं, पर जबतक हमारे भीतर उत्सुकता नहीं होती, तबतक वे आयें भी कैसे। उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी। वह चाह कैसी होनी चाहिये, इस बातको प्रभु ही पहचानते हैं। जिस चाहसे वे प्रकट हो जाते हैं, वही चाह असली चाह समझनी चाहिये। अत: जबतक वे न आयें, चाह बढ़ाता ही रहे। घड़ा भर जानेपर पानी अपने-आप ऊपरसे बह चलेगा।

भगवत्प्रेमकी अवस्था ही अनोखी होती है।

भगवान‍्का प्रसंग चल रहा है, उनकी मधुर चर्चा चल रही है, उस समय यदि स्वयं भगवान् भी आ जायँ तो प्रसंग चलाता रहे, भंग न होने दे। प्रियतमकी चर्चामें एक अद्भुत मिठास होती है, जिसकी चाट लग जानेपर और कुछ सुहाता ही नहीं। प्रीतिकी रीति अनोखी है। प्रभुकी प्रीतिका रस जिसने पा लिया, उसे और पाना ही क्या रहा? प्रभु तो केवल प्रेम देखते हैं। स्वयं प्रभुसे बढ़कर प्रभुका प्रेम है। श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रभुके गुण, प्रभाव, तत्त्व तथा रहस्यसहित ध्यानमें तन्मय होकर प्रभुके प्रेमामृतका पान करना ही प्रभुकी प्रीतिका आस्वादन करना है या हरिके रसमें डूबना है।

दो प्रेमियोंमें यदि न बोलनेकी शर्त लग जाय तो अधिक प्रेमवाला ही हारेगा। पति-पत्नीमें यदि न बोलनेका हठ हो जाय तो वही हारेगा, जिसमें अधिक स्नेह होगा। इसी प्रकार जब भक्त और भगवान‍्में होड़ होती है तो भगवान‍्को ही हारना पड़ता है; क्योंकि प्रभुसे बढ़कर प्रेमी कोई नहीं है। उन्हें इतना व्याकुल कर देना चाहिये कि हमारे बिना वे एक क्षण भी न रह सकें। फिर उन्हें हार माननी ही पड़ेगी—आनेके लिये बाध्य होना ही पड़ेगा। हमें व्यवस्था ही ऐसी कर देनी चाहिये, प्रेमसे उन्हें मोहित कर देना चाहिये। फिर तो धक्का देनेपर भी वे नहीं हटेंगे।

प्रभुके साथ हमारा व्यवहार वैसा ही होना चाहिये, जैसा स्त्रीका अपने पतिके साथ। जैसे स्त्री अपने प्रेम और हाव-भावसे पतिको मोहित कर लेती है वैसे ही हमें भगवान‍्को अपने प्रेम और आचरणसे मोहित कर लेना चाहिये। उन्हें अपनेमें आसक्त भी कर ले और खुशामद भी न करे। फिर तो वे एक पलके लिये भी हमारे द्वारपरसे हटनेके नहीं। वे प्रेमके भिखारी प्रेमके बंदी बने बैठे हैं, जायँगे कहाँ? पति पत्नीके प्यारको ठुकरा ही कैसे सकता है? इसी प्रकार प्रभु भी अपने भक्तके प्यारका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? ऐसा हो जानेपर उनसे हमारे बिना रहा ही कैसे जायगा? वे तो सदा प्रेमके अधीन रहते हैं। एक बार प्रभुको अपने प्रेम-पाशमें बाँध ले, फिर तो वे सदाके लिये बँध जाते हैं।

प्रभुको वशीभूत करनेका ढंग स्त्रीसे सीखना चाहिये। इसी प्रकारका सम्बन्ध उनसे जोड़ना चाहिये। यही माधुर्यभाव है। बाहरका वेष न बदले, भीतर प्रेमकी प्रगाढ़तामें उसीका बन जाय, यही उन्हें प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है।

प्रभु बड़े दयालु और उदारचित्त हैं। इसलिये थोड़े प्रेमसे भी वे प्राप्त हो सकते हैं; किंतु हमलोगोंको उपर्युक्त प्रेमको लक्ष्य बनाकर ही चलना चाहिये; क्योंकि उच्च लक्ष्य बनाकर चलनेसे ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। यदि लक्ष्यके अनुसार पूर्ण प्रेम हो जाय, तब तो अत्यन्त सौभाग्यकी बात है। ऐसे पुरुष तो आदर्श एवं दर्शनीय समझे जाते हैं, उनके कृपाकटाक्षसे दूसरे भी कृतकृत्य हो जाते हैं, फिर उनकी तो बात ही क्या?

भगवत्प्रेमके साधक और बाधक

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति। तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति॥
बेष बिसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन। तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन॥

(दोहावली १५२-१५३)

'जिसका मन सरल है, वाणी सरल है और समस्त क्रियाएँ सरल हैं, उसके लिये भगवान् श्रीरघुनाथजीके प्रेमको उत्पन्न करनेवाली सभी विधियाँ सरल हैं अर्थात् निष्कपट (दम्भरहित) मन, वाणी और कर्मसे भगवान‍्का प्रेम अत्यन्त सरलतासे प्राप्त हो सकता है। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऊपरका वेष साधुओंका-सा हो और बोली भी मीठी हो, परंतु मन कठोर हो और कर्म भी मलिन हो—इस प्रकार विषयरूपी जलकी मछली बने रहनेसे श्रीरामजीकी प्राप्ति नहीं होती (श्रीरामजी तो सरल मनवालेको ही मिलते हैं)।'

श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव

[श्रीकृष्णकी धात्री (धाय) मुखराके भाव]

(श्रीसुदर्शनसिंहजी 'चक्र')

हमारी व्रजरानीने आठवें महीनेमें कुमार पाया है। सब कहते हैं कि मैं बहुत बोलती हूँ; किंतु बोलूँगी नहीं। मैं बूढ़ी हो गयी, पता नहीं कितने शिशु मेरे इन हाथोंसे उत्पन्न कराये गये, पर यह जो व्रजराजका, व्रजका, हम सबका पुण्य एक साथ मिलकर मूर्ति बनकर आया है, ऐसा शिशु संसारने कभी काहेको देखा होगा। मैं इसपर तभीसे राई-लवण उतारती थकी जाती हूँ।

कभी ऐसा नहीं हुआ कि मुखरा प्रसूति-कक्षमें असावधान हो जाय और इस बार मुझे भी नींद आ गयी! वैसे मैंने कोई प्रमाद नहीं किया था। व्रजको युवराज मिलनेवाला था और मैं प्रमाद करती! प्रसूति-कक्ष मैंने पूर्णतः सजाया था श्वेत पुष्पोंसे और विघ्न-वारणके सब प्रयत्न किये थे। अखण्ड प्रदीप था सर्षप-तैलका, तिन्दुक काष्ठकी नित्य प्रज्वलित अग्निमें धूप दी गयी थी और ठीक स्थानोंपर शस्त्र रखे थे मैंने। परिचर्याके उपयुक्त सामग्री, औषधियाँ—सब संगृहीत थीं।

अर्धरात्रिके पश्चात् ही तीव्र वर्षा होने लगी। मैं थकी थी। तनिक भित्तिसे सिर टिकाकर बैठी और सो गयी। मैं वृद्धा सो गयी, इतनी सदाकी सावधान और ठीक समय सो गयी—यह शल्य मैं कैसे निकाल दूँ। मुझे कोई कुछ कहनेवाला नहीं, व्रजराज भी मुझे मान देते हैं; किंतु मैं अपने इस अक्षम्य प्रमादको भूल नहीं पाती हूँ।

प्रहरी गोप सो गये—बड़ी बात नहीं थी; पर प्रसूता भी सो जाती है, यह मैंने कभी सुना भी नहीं था और यहाँ यशोदा रानी ही सो गयीं। बेचारीके लिये प्रथमावसर था और मैंने औषधियाँ भी ऐसी दी थीं कि पीड़ा न हो। सब सो गये सो ठीक, पर मुझे तो नहीं सोना था।

जगाया मेरे इस जीवन-प्राण नवजातने ही। यह सहस्र-सहस्र वर्ष जीता रहे और सदा सुखी रहे। यह आया और सब खुर्राटे लेकर सो रहे थे। इतने दिनोंकी प्रतीक्षा, इतनी मनौतियाँ, इतनी प्राणोंकी पुकार—लेकिन यह आया तो कोई इसे देखने-सम्हालनेवाला तक नहीं था। वह व्रजराज कुमार अब सदा देखे-सम्हालेगा सबको और यही सब सोनेवालोंको जगाया करेगा, यह तो इसने जनमते ही सूचित कर दिया है।

किसीको यह पता नहीं कि यह रात्रिमें उत्पन्न कब हुआ। जातकर्मके समय महर्षिने मुझे बुलवाया तो लगा कि आज मैं क्षमा नहीं की जाऊँगी। महर्षि महान् दयासागर हैं। मैं हाथ जोड़कर काँपती खड़ी हुई तो उन्होंने अभय दे दिया—'मुखरा! आज तो आनन्दका अवसर है! आज त्रिभुवनको अभय करनेवाला आया है। तू भीत क्यों है?'

कठिनाईसे मैं गिड़गिड़ाते हुए कह सकी किसी प्रकार कि मैं सो गयी थी—'सब सो गये थे। मेरी समझमें ही नहीं आता था कि लालका जन्म-लग्न कैसे निश्चित होगा।'

'तेरा अपराध नहीं है।' महर्षि सर्वज्ञ हैं, उन्होंने नेत्र बन्द किये और कहा—'वह जो योगमाया अनुजा बनकर आयी और चली भी गयी, उसकी शक्ति अपार है। उसकी लीला—उसने सभीकी बाह्य चेतना प्रसुप्त कर दी तो तू क्या करेगी। चिन्ता मत कर!'

मैं नहीं जानती कि यह योगमाया कौन है! वह कब कहाँसे आयी और किधर चली गयी। पता नहीं उसने क्या किया होगा। मैं तुरंत दौड़ गयी थी प्रसूति-कक्ष सावधानीसे देखने कि वह वहाँ कुछ अस्त-व्यस्त न कर गयी हो। हमारी साक्षात् योगमाया भगवती पूर्णमासी तो पीछे हम सबके सावधान होनेपर पधारी थीं और अभी यहीं थीं।

'इसका लग्न कैसे निश्चित होगा?' मैंने हाथ जोड़े-जोड़े हिचकते हुए कहा था प्रसूति-गृह देखकर शीघ्रतापूर्वक आते ही।

'निश्चय, हो जायगा।' महर्षिने आश्वासन दिया—'तू सचेत कैसे हुई?'

'मैं कहाँ सचेत हुई।' सच-सच कहा मैंने—'सबको तो इस लालने सचेत किया। यह रो-रोकर प्रसूति-कक्ष गुंजित न कर देता तो वहाँ तो सभी सो रही थीं।'

'सभी सो रहे हैं मुखरा!' महर्षि कभी-कभी ऐसी बात कहने लगते हैं कि उसका अर्थ कोई बड़ा विद्वान् ही समझ पाता होगा। अब वहाँ तो सब जाग रहे थे और वे कहने लगे—'अनादिकालसे मायाके अंकमें सब सो रहे हैं। योगमाया तो कदाचित् कभी इनके स्वजनोंको सुलाती हैं। लेकिन जगानेवाले यही हैं। ये कृपा करें तो जीव जागे और ये करुणाधाम—इनका अभिन्न सखा जीव इन्हें न देखकर सोता है तो ये आनन्दघन भी रोने लगते हैं।'

'यह रो रोकर सबको उठा रहा था; किंतु मैंने इसे अभी मातृ-स्तन दिया नहीं है।' जातकर्मसे पूर्व तो इस सुकुमारको दुग्धपान नहीं कराया जाना चाहिये। अब यह रो-धोकर स्वयं सोने लगा है। 'लेकिन इसका लग्न?'

मुझे लग्न-श्रवणकी त्वरा थी। इतने सुन्दर सलोने लालका भविष्य—श्रवणको सब उत्सुक थे और सर्वज्ञ महर्षिके लिये लग्न-निर्णय कठिन तो था ही नहीं।

'यह वृष लग्नमें आया है।' महर्षिने कहा— 'श्रीव्रजराजकी अपेक्षा ऊँचाईमें किञ्चिन्न्यून रहेगा।'

अच्छा ही है—बहुत प्रलम्ब होनेको इसके अग्रज ही पर्याप्त हैं। दाऊ अभीसे लम्बा लगता है। इसके ताऊ-चाचाके कुमारोंमें ऋषभ-अर्जुन भी लम्बे ही हैं और विशाल तो विशाल है ही। यह कुछ ठिगना रहे, इसमें तो कोई दोष नहीं। बहुत बार ठिगने व्यक्ति अधिक स्वस्थ सशक्त होते हैं।

'रोहिणीमें उत्पन्न हुआ।' महर्षि कह रहे थे— 'प्रसूति-कक्षमें सर्प होना चाहिये था; किंतु...'

मैं भागकर देखने जा रही थी पर महर्षिने मुझे रोककर पूछा—'इसके अग्रज तो स्वयं भगवान् अनन्त हैं। वे वहाँ थे?'

'दाऊ तो वहीं था।' मैंने बतलाना प्रारम्भ किया और मेरा यह दोष तो है ही कि मैं पूरी बात कहे बिना नहीं मानती। मैंने बहुत बच्चे उत्पन्न कराये हैं, पाले हैं। रोहिणी रानीसे, सबसे मैं सदा कहती थी कि दाऊ गूँगा नहीं है, अपंग भी नहीं है; किंतु मुझ धायकी बात पर कोई ध्यान ही नहीं देता था। बालककी पहिचान करनेमें कहीं मुखरासे भूल हो सकती है।

कल पता नहीं कब दाऊ उठा और अपने पलनेसे उतरकर प्रसूति-कक्षमें आ गया। रोहिणी रानी तो व्यस्त थीं। इस बच्चेकी ओर तो तब सबका ध्यान गया, जब यह अपने नव-प्रसूत अनुजके समीप शय्याको पकड़कर खड़ा हो गया और हँसने लगा। यह उसे देखता था और सिर हिला-हिलाकर हँसता था। इतना हँसता रहा जैसे पूरे वर्षकी रोकी सब हँसी अभी पूरी कर लेगा।

यह तो अपने दाहिने हाथकी तर्जनीसे धीरेसे छूता था शिशुको और कहता था—'उठ!' फिर हँसने लगता था। अब यह अपने नवजात अनुजका साथ ही नहीं छोड़ना चाहता। इसके हँसने, बोलने, स्वयं उठकर चलनेसे तो सबका आनन्द शतगुणित हो गया है। तभी तो व्रजराजने जब जाकर कहा—'भाभी! आज तो यह उदासीनताका वेश बदल डालो।' तो एक बार भी रोहिणी रानीने अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने सर्वाभरण सजा लिये अपने स्वर्णगौर सुन्दर अंगोंमें और ऐसी साड़ी धारण की है जैसे वे नववधू हो गयी हैं। आजके महोत्सवकी व्यवस्था भी तो उन्हींको करनी है।

मैं पता नहीं कितना बता देना चाहती थी; किंतु महर्षिने संकेतसे रोककर सुनाया—'इसके बुध, शनि, मंगल, चन्द्र और गुरु—ये पाँच ग्रह उच्चके हैं। शुक्र स्वगृही है और शनिके साथ शत्रुभवनमें बैठा है। शत्रुओंका संहारक होगा यह। तृतीयमें राहु सर्वविघ्न-वारक होता ही है और नवमका केतु—मोक्ष तो इसके स्मरणसे प्राणियोंको प्राप्त होगा। यह सौन्दर्यका, श्रीका, सुयशका अनन्त धाम अपने सुहृदोंका सब प्रकार कल्याण करेगा। सूर्य स्वगृही है सुख-भवनमें।'

इतना तो मैं भी जानती थी। अन्ततः मैं भी धात्री हूँ। शिशुओंके ग्रह भले मैं न जानूँ, उनके अंग-लक्षण तो जानती ही हूँ। इस लालके ये कमल-लोचन, यह इसकी बंक भौंहें और इसके वक्षपर जो स्वर्णिम रोमावलीकी भ्रमरी है, वह मैंने देख ली है। यह बहुत सुकुमार है—सभी नवजात शिशु सुकुमार होते हैं, वैसा नहीं। यह तो लगता है कि सघन मेघोंसे बना है। मुझ वृद्धाके कर कठोर हो गये हैं। इसे स्पर्श करते मेरा हृदय काँपता है। कुछ बड़ा हो जाय, तब इसके कर-चरण भली प्रकार देखूँगी।

गोकुलके आसपास वनोंमें, उपवनमें, गृहोंमें जो इसके माताके उदरमें आनेके साथ ही शोभा, सम्पत्ति उमड़ पड़ी है, वह तो सब देखते ही हैं। इतना सौन्दर्य वृक्षोंमें, वनोंमें—मुझे व्रजराजके सेवकने बतलाया कि

कालिन्दी-पुलिनपर रेणुके रंगीन कणोंसे, वनोंमें तृण-पुष्पोंसे, जलमें पुष्पोंसे और भूमिपर रत्नोंसे नाना प्रकारके मण्डल-चित्र प्रकट हो गये हैं। वैसे मण्डल जैसे मुनिगण यज्ञोंके समय यज्ञशालामें बनाया करते हैं। सब पशु-पक्षी प्रसन्न, पुष्ट, सानन्द हैं और शकुनोंने तो गोकुलको अपना आवास बना रखा है। यह सब हमारे लालका सौभाग्य-सूचक ही तो है।

प्रसूति-कक्ष, प्रांगण तो आज अद्‌भुत सुरपुष्पोंसे भरा गया है। अवश्य व्रजके युवराजका जन्मोत्सव मनाया है गगनमें सुरोंने भी। लेकिन यहाँ जो उत्सव आरम्भ हो गया है। आजके आनन्दमें तो सब उन्मत्त हो गये हैं। अरे इस वृद्धा मुखराको तो बची रहने दो। इसे प्रसूति-कक्ष सम्हालना है, नवप्रसूताकी सेवा करनी है, लालको अधिक दूध न पिला दिया जाय, यह देखना है; किंतु कोई आज मेरी पुकार नहीं सुनता। मैं भी तो पगली हो गयी हूँ। मुझसे भी तो प्रसूति-कक्षमें बैठा नहीं जाता।

व्रजेश नाच रहे हैं, उपनन्दतक नाच रहे हैं तो सब मुखराको नचाना चाहते हैं, इसमें क्या अनुचित है। यशोदाके अंकमें लाल आया—मुखराका ही तो लाल है। वह अपनी इस धात्रीको भी तो 'माँ' कहेगा। मुखरा आज नहीं नाचेगी तो कब नाचेगी।

यह नवनीत, दूध, दधि, हरिद्रा मिला तैल—यह परस्पर निक्षेप, यह प्रेममग्न उन्मद नृत्य एवं हास्य। यह गोपोंका और वृद्धोंका भी कूदना। मुखरा ही तो है, जो गोपोंके—व्रजराज और उनके अग्रजोंके श्मश्रु-कपोल भी नवनीत-लिप्त कर सकती है और गोपियोंको—वृद्धाओंको, वधूटियोंको भी कर पकड़कर थिरका सकती है।

लेकिन यह क्या है? मुखराको यह सब अपार उपहार क्यों? मुखराने तो लाल पाया है। यह धात्री आज लुटानेवाली, देनेवाली है। मेरे लालकी न्यौछावर लो सब—सब लूटो जीभर कर। इसमें भी कोई मेरी नहीं सुनता तो मैं कैसे मान लूँ।

व्रजराज लुटा रहे हैं—रत्न, कोश, गायें, वृषभ, वस्त्र लुटा रहे हैं। ऋषियोंको, मुनियोंको, ब्राह्मणोंको उन्होंने मनुहारें करके दिया है और सूत, मागध, बन्दी, भिक्षुकोंका घर ही नहीं, मन भर दिया है। आज वे गोपोंको, गोपियोंको हाथ जोड़कर, पैर पकड़कर मना-मनाकर वस्त्र-आभरण दे रहे हैं—यह उचित ही है।

रोहिणी रानी तो महारानी हैं। ये आज सबका सत्कार करनेमें लगी हैं और इन्हें कम देना आता ही नहीं है। इनके हाथोंमें लक्ष्मीका निवास है। ये जिसे स्पर्श कर दें, जिसे दे दें—उसका अभाव पूरे जीवनके लिये मिट गया।

अभी मधुमंगल कह गया—'मुखरा मौसी! आज सुरांगनाएँ आयी हैं याचिका होकर और मैंने सुरोंको, दिव्य महर्षियोंको ब्राह्मणोंके साथ व्रजराजके करोंसे दक्षिणा लेते देखा है। तू आज जो चाहे, जितना चाहे माँग ले माँसे। मैं ब्राह्मण भी आज तुझे अपने सखाके आगमनमें आशीर्वाद दे सकता हूँ।'

मैंने आज झिड़क दिया—इस अत्यन्त चपलको आज ही झिड़का मैंने—'चल! आशीर्वाद देने आया मुझे! मेरे लालको आशीर्वाद दे और माँग ले तुझे जो दक्षिणा लेनी हो।'

व्रजराजकी—मेरे व्रज नव-युवराजकी दक्षिणा लेने महामहर्षि आवें, सुर आवें, सुरांगनाएँ ही नहीं, शारदा और श्री आवें—सब अपना सौभाग्य मानें इसकी दक्षिणा-न्यौछावर पाकर; किंतु मुखरा क्यों माँगे! मुखरा तो माँ है—धात्री माँ और मुखरा आज देनेवाली-लुटानेवाली है।

महारानी—रोहिणी महारानी नहीं ही मानेंगी। इनकी दृष्टि बचाकर कोई भी आज निकल नहीं पाती। सबको इनका सत्कार-उपहार आज स्वीकार करना ही पड़ता है तो मुखरा धात्री है। इसे प्रसूति-कक्षमें ही रहना है और मैं इस गृहकी सेविका—मेरा रोम-रोम, कण-कण इसके अन्नसे पला-पुष्ट हुआ। महारानीका प्रसाद मेरे मस्तकपर। महारानीने मुझे आज इतना दिया है कि मेरी अनेक पीढ़ियाँ भी उसे समाप्त नहीं कर सकेंगी।

मेरा यह लाल सकुशल रहे! व्रज इसकी छायामें फले-फूले! मुखराने आज क्या नहीं पाया इसे पाकर। यह आया—अब और पाना क्या शेष रह गया। लेकिन यह जात-कर्ममें ही बहुत श्रान्त हो गया है। सोने लगा है और मुझे सावधान रहना है कि प्रसूति-कक्षके समीप अधिक शब्द न हो।

मृत्युञ्जययोग

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

जिस प्रकार महाभारतमें अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया था, उसी प्रकार श्रीद्वारकापुरीमें उद्धवजीको भी उपदेश प्रदान किया। उक्त उपदेशमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि अनेक विषयोंकी भगवान्ने बड़ी ही विशद व्याख्या की है। अन्तमें योगका उपदेश हो जानेके बाद उद्धवने भगवान्से कहा—'प्रभो! मेरी समझसे आपकी यह योगचर्या साधारण लोगोंके लिये दु:साध्य है, अतएव आप कृपापूर्वक कोई ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे सबलोग सहज ही सफल हो सकें।' तब भगवान्ने उद्धवको भागवतधर्म बतलाया और उसकी प्रशंसामें कहा—'अब मैं तुम्हें मंगलमय धर्म बतलाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है।' यानी जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छूटकर भगवान्को पा जाता है। इसीलिये इसका नाम 'मृत्युञ्जययोग' है। भगवान्ने कहा—

मनके द्वारा निरन्तर मेरा विचार और चित्तके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे आत्मा और मनका मेरे ही धर्ममें अनुराग हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि शनै:शनै: मेरा स्मरण बढ़ाता हुआ ही सब कर्मोंको मेरे लिये ही करे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों, उन पवित्र स्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो चुके हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करे। अलग या सबके साथ मिलकर प्रचलित पर्व, यात्रा आदिमें महोत्सव करे। यथाशक्ति ठाट-बाटसे गान, वाद्य, कीर्तन आदि करे-कराये। निर्मल-चित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने-आपमें बाहर-भीतर सब जगह आकाशके समान सर्वत्र मुझ परमात्माको व्याप्त देखे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और क्रूर—सबमें समान दृष्टि रखता है, वही मेरे मनसे पण्डित है। बारंबार बहुत दिनोंतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपनी दिल्लगी उड़ानेवाले घरके लोगोंको, 'मैं उत्तम हूँ, यह नीच है'—इस प्रकारकी देहदृष्टिको और लोकलाजको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको पृथ्वीपर गिरकर भगवद्भावसे साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

जबतक सब प्राणियोंमें मेरा स्वरूप न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके व्यवहारों-द्वारा मेरी उपासना करता रहे। इस तरह सर्वत्र परमात्मबुद्धि करनेसे उसे सब कुछ ब्रह्ममय दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर जब समस्त संशयोंका सर्वथा नाश हो जाय, तब उसे कर्मोंसे उपराम हो जाना चाहिये। अथवा वह उपराम हो जाता है। उद्धव! मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मुझको देखना ही मेरे मतमें सब प्रकारके मेरी प्राप्तिके साधनोंमें सर्वोत्तम साधन है। उद्धव! एक बार निश्चयपूर्वक आरम्भ करनेके बाद फिर मेरा यह निष्काम धर्म किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी ध्वंस नहीं होता; क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इसको पूर्णरूपसे निश्चित किया है। हे संत! भय, शोक आदि कारणोंसे भागने, चिल्लाने आदि व्यर्थके प्रयासोंको भी यदि निष्काम बुद्धिसे मुझ परमात्माके अर्पण कर दे तो वह भी परम धर्म हो जाता है। इस असत् और विनाशी मनुष्य-शरीरके द्वारा इसी जन्ममें मुझ सत्य और अमर परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

अतएव जो मनुष्य भगवान्की प्राप्तिके लिये कोई यत्न न करके केवल विषयभोगोंमें ही लगे हुए हैं, वे श्रीभगवान्के मतमें न तो बुद्धिमान् हैं और न मनीषी ही हैं।

साधकका दायित्व—सत्संग

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

हम सब मानव हैं और मानव होनेके नाते साधक हैं। हममें जिज्ञासा है, माँग है, आस्था है। जिसकी कोई माँग होती है, उसपर दायित्व भी होता है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य यह जो कुछ भी है, सब-का-सब मिला हुआ है, 'उस'का है। निश्चय ही यह 'मैं' नहीं है। स्वीकृति भी 'मैं' नहीं, प्रतीति भी 'मैं' नहीं, 'मैं' वह है, जिसकी माँग हो, जिसपर दायित्व हो। मिले हुएका दुरुपयोग न करना। मिला हुआ, किसीका दिया हुआ होता है। वह किसी औरका होता है और सुने हुएपर अश्रद्धा नहीं करना—यही साधकका कर्तव्य है। जो कुछ भी वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य हमें मिले, उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे, उसे अपना नहीं मानेंगे और मिला हुआ जो अनुभव है, उसका अनादर नहीं करेंगे, जो सुना हुआ है, उसमें अश्रद्धा नहीं करेंगे—तभी हमारा जीवन भूलरहित हो जायगा। जो अपना नहीं है, उसे अपना करके नहीं मानो। मिला हुआ अपना नहीं है। उसपर हमारा अपना अधिकार नहीं है—ऐसा मानते ही निर्ममता आयेगी। जो मेरा नहीं है तो क्या मेरे लिये है? चिरशान्ति, स्वाधीनता, परम प्रेमकी माँग इस मिले हुएसे नहीं होती। मेरा नहीं, मेरे लिये नहीं—ऐसा मानते ही मोह, दीनता, अभिमान आदि सब नष्ट हो जाते हैं। यदि हम अपनी भूलको निकाल दें तो अभी निर्विकार हो जायँगे। यह निर्विकारिता प्राकृतिक है। अनुभवसिद्ध बातका विरोध बातसे नहीं होता। श्रद्धासे अनुभवका विरोध नहीं होता। यदि आप अपने अनुभवका अनादर नहीं करें तो विषमता अपने-आप समाप्त हो जाय। सही कर्तव्य करनेसे साधक रागसे मुक्त हो जाता है। स्वीकृतिके अनुरूप जीवन होनेपर स्वीकृति नहीं रहती।

सत्संग मानव-जीवनका दायित्व है। सत्संगसे साधनकी अभिव्यक्ति होती है और तभी साधन और जीवनकी एकता होती है। जीवनमें साधन और असाधनकी द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है और जबतक यह द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है, तबतक 'मैं'की अनुभूति होती है।

सत्के साम्राज्यमें श्रेणी-भेद नहीं होता। सभी मान्यताएँ निकाल देनेपर योग, विश्राम और अनन्त प्रेम स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है—स्वतः प्राप्त हो जाता है। कर्तव्य, विश्राम राग-निवृत्तिका हेतु है। सही कामसे मनुष्य रागरहित हो जाता है। स्वीकृतिको अभिनयात्मक मान लेनेसे वासना अपने-आप नष्ट हो जाती है। सही काम करनेसे कार्यके अन्तमें शान्त हो जायँगे। उस शान्तिमें रमण न करनेसे अचाह हो जायँगे। तब 'किसी'से अभिन्न हो जायँगे। वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। दासतासे रहित और प्रेमसे युक्त होनेपर तुमने स्वाधीनताको प्राप्त कर लिया। वह परम प्रियतम अभिलाषी है मानवका। यही मानवकी महिमा है।

सत्संगसे योग, बोध, प्रेमकी प्राप्ति होती है। सत्संगका अर्थ है जाने हुए असत्का त्याग और सत्की स्वीकृति। सत् माने सदैव रहना। जो सदैव है, वह अब भी है। सत्संगका अर्थ सत्-चर्चा या सत्-चिन्तन नहीं है, सत्संगका अर्थ है—मौजूदका संग। सत्संगके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है। श्रमरहित सत्संगसे ही किये हुए, भोगे हुएका चिन्तन उत्पन्न होगा। उस चिन्तनसे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं। सत्संगका अर्थ है मिले हुएको अपना नहीं मानना, अपने लिये नहीं मानना और उसका दुरुपयोग नहीं करना। जबतक अपने लिये करते रहेंगे, तबतक रागकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अपने लिये है विश्राम, दूसरोंके लिये है मिले हुएका सदुपयोग। मौजूदका संग करनेसे अहंकाररहित होनेके लिये सही काम करना होगा। सही काम करनेके लिये पहले अपनेको सही करना पड़ेगा। सही करनेका अर्थ है—अपनेको बुरा नहीं समझूँगा। बुराईके साथ अपनेको मिलाऊँगा नहीं।

मैं साधक हूँ। सत्संग मेरा दायित्व है। बोध, योग और प्रेम मेरी माँग है। साधक होनेके नाते हम जन्मजात सिद्धिके अधिकारी हैं। भावशक्ति, विवेकशक्ति और क्रियाशक्तिका सामंजस्य होनेपर ही मानवकी महिमा व्यक्त होती है।

साधकोंके प्रति—

दृढ़ भावसे लाभ

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

कहावत है कि जिस गाँवमें नहीं जाना है, उसका रास्ता ही क्यों पूछा जाय? ऐसा दृढ़ भाव हो जाय कि अपनी उम्रमें अमुक काम हमें नहीं ही करना है तो वह कार्य हो ही कैसे सकता है? जैसे सिनेमा नहीं देखना है, तो नहीं ही देखना है। बीड़ी-सिगरेट आदि व्यसन नहीं करना है, तो नहीं ही करना है। चाय आजसे नहीं पीना है, तो नहीं ही पीना है। समाप्त हुआ काम। अब झूठ नहीं बोलना है, तो झूठ बोलेंगे ही क्यों, फिर झूठ निकल ही नहीं सकता। ऐसे ही प्रत्येक सद्‌गुण-सदाचारके ग्रहण और दुर्गुण-दुराचारके त्यागके लिये दृढ़ भाव बना लिया जाय तो यह भाव बहुत जल्दी बन सकता है और फिर वह अनायास ही आचरणमें भी आ सकता है।

इसके लिये एक बहुत उपयोगी बात यह है कि हम अपनेको दृढ़प्रतिज्ञ बनावें। अर्थात् हरेक व्यवहारमें जो विचार कर लें, बस वैसा ही करें—यों करनेपर दृढ़ विचारोंकी एक परिपक्वता हो जाती है, फिर संकल्प दृढ़ हो जाता है। इसी प्रकार जबानसे कह दें तो फिर वैसा ही करनेकी चेष्टा करें। बहुत ज्यादा दृढ़तासे कहें तो उसके पालनकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करें। मर भले ही जायँ, पर अब तो करेंगे ऐसे ही। छोटे-छोटे कामोंमें इस प्रकार दृढ़प्रतिज्ञाका स्वभाव बनानेकी चेष्टा करें तो हमारा स्वभाव सुधर जाता है। स्वभाव सुधरनेपर फिर बड़ी-से-बड़ी बातें भी जो विचार कर लें, वे धारण हो जाती हैं। यह भाव-निर्माण तथा भाव-धारण-साधन बहुत सुगम है और बहुत ही श्रेष्ठ है।

सेनामें लोग भरती होते हैं तब अपना नाम लिखा लेते हैं और समझते हैं कि 'हम तो सिपाही हो गये।' ऐसा भाव होनेपर मनमें स्वयं जिज्ञासा पैदा होती है कि सिपाहीको क्या करना चाहिये। ऐसी जिज्ञासा होनेपर उनको शिक्षा दी जाती है और वह शिक्षा उनके धारण हो जाती है। ऐसे ही साधन करनेके लिये वैरागी पुरुष साधु बनता है, उसके मनमें आता है कि 'मैं साधु बन गया' तो 'साधुको क्या करना चाहिये'—यह स्वयं उसके मनमें जिज्ञासा होती है। उसके बाद जब यह बताया गया कि साधुका यह आचरण है, साधुको ऐसे बोलना, ऐसे उठना चाहिये, ऐसा आचरण करना चाहिये, यह व्यवहार करना चाहिये तो यह साधुताकी बात वह पकड़ लेता है; क्योंकि वह समझता है कि 'मैं साधु हूँ, अतः मुझे अब साधुके अनुसार चलना ही है।' ऐसे ही अपने-आपको साधक मान ले कि मैं तो भजन-ध्यान-साधन करनेवाला साधक हूँ। जहाँ प्रवचनोंमें, ग्रन्थोंमें यह बात आयेगी कि 'साधकके लिये यों करना उचित है, साधकमें चंचलता नहीं चाहिये, उसे व्यर्थ समय नहीं गँवाना चाहिये, हर समय भगवत्-भजन, ध्यानादि करना चाहिये, कुसंगका त्याग करना चाहिये, सत्संग और स्वाध्याय करना चाहिये, आदि'—इस प्रकार साधकके लिये जो कर्तव्य बतलाये जायँगे, उन कर्तव्योंको वह अपनेमें लानेकी स्वतः ही विशेष चेष्टा करेगा; क्योंकि वह अपने-आपको साधक मानता है। अतः साधकके लिये जो बातें आवश्यक हैं, वे उसमें आ जायँगी, धारण हो जायँगी, पर जो मनुष्य अपनेको साधक नहीं मानेगा, वह कोई बात चाहे सत्संगमें सुने, व्याख्यानमें सुने या ग्रन्थोंमें पढ़े, उसके हृदयमें वह विशेषतासे धारण नहीं होगी और न उन बातोंके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध ही होगा।

बहुत-से भाई-बहिन साधन करते हैं, जप-पाठ आदि नित्य-नियम करते हैं, परंतु नित्य-नियमके साथ समझते हैं कि यह तो घण्टे-डेढ़-घण्टे करनेका काम है। शेष समयमें समझते हैं कि हम तो गृहस्थ हैं, हमें अमुक-अमुक काम करने हैं, हम अमुक घरके, अमुक जातिके, अमुक वर्णाश्रमके हैं। घण्टे-डेढ़-घण्टे भगवान्‌का भजन कर लेना है, गीतापाठ कर लेना है, कीर्तन कर लेना है। सत्संग प्रतिदिन मिल

गया तो प्रतिदिन कर लिया। बारह महीनेसे मिल गया तो बारह महीनेसे कर लिया। सत्संग कर लिया, एक पारी निकल गयी। ऐसा भाव रहता है। इसलिये विशेष सुधार नहीं होता, वह उस सत्संगको ग्राह्य-दृष्टिसे नहीं देखता। ग्राह्य-दृष्टिसे देखने और साधारण कुतूहलनिवृत्ति-दृष्टिसे देखनेमें बड़ा अन्तर है। हम सत्संगको कुतूहलनिवृत्ति या मन बहलानेकी तरह सुनते हैं। अतः धारण नहीं होता। इसलिये हमें सत्संगको—साधनको ग्राह्य-दृष्टिसे देखना चाहिये और ऐसा भाव रखना चाहिये कि हमें तो निरन्तर भगवान्‌का भजन-ध्यान ही करना है। जो कुछ कार्य करना है, वह भी केवल भगवान्‌का ही और भगवान्‌के लिये ही करना है। इस दृष्टिसे भगवान्‌के नाते ही सब काम किये जायँ तो उससे महान् लाभ हो सकता है।

विभीषणकी शरणागतिसे शिक्षा

(पं० श्रीगोपालजी भट्ट)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम असंख्य वानरदलके साथ समुद्रके किनारे बैठे हुए मन्त्रणा कर रहे थे कि किस प्रकार इस अगम्य अथाह समुद्रको पार किया जाय और लंकाधिपति रावणकी सेनापर विजय प्राप्त करके जनकजा सीताको प्राप्त किया जाय। इसी बीच आकाशमार्गसे आते हुए लंकाधिपति रावणके भाई विभीषण दिखलायी दिये। श्रीरामदलमें अनेकानेक बुद्धिमान्, नीतिकुशल और व्यवहारसिद्ध राजनीतिज्ञ थे, जिनके बीच विभीषणके श्रीरामदलकी ओर आनेके कारणोंपर अनेक पहलुओंसे विचार प्रारम्भ हुआ। अपनी-अपनी सम्मतियोंके बीच एक ही भाव प्रबल दीख पड़ रहा था कि यह विभीषण हमारे शत्रु रावणका भाई है, और राक्षस है, हमारे यहाँ क्यों आ रहा है? इसमें अवश्य ही कुछ गुप्त राजनीतिक चाल है; ***'भेद हमार लेन सठ आवा'***—अवश्य ही यह गुप्तरीतिसे हमारे भेदको लेने आया है। अतः कपिदलपति सुग्रीवके कथनका सभीने समर्थन किया—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

सुग्रीवके इस निर्णयको सुनकर उसपर शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका निर्णय होता है—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥

निर्णय सुनकर श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्नता हुई; क्योंकि वे लंकामें उनसे मिल चुके थे; वे जानते थे कि विभीषण किस कोटिके संत और रामभक्त थे।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा०रा० ६। १८। ३३)

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥
जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

शरणागत होकर आना बहुत कठिन है, श्रीभगवान्‌के पवित्र नामके प्रति अनुराग सिद्ध होना भी कठिन है, शत्रुका भाई है तो क्या, भेद लेनेकी दुर्भावनासे आता हो तो भी क्या है। '**न मे भक्तः प्रणश्यति**'का भाव मेरा शरणागतकी सर्वथा रक्षा करना है। उसे अपने प्राणोंकी तरह, पलकोंके भीतर रहनेवाली आँखोंकी रक्षाकी तरह मैं अंगीकार कर लेता हूँ। धूल-मिट्टी, गोबर-कीचड़से सने हुए बछड़ेको वात्सल्यस्नेहमयी माँ गाय जिस प्रकार चाट-चाटकर साफ कर लेती है और अपने अमृतमय स्तनका स्नेहसे पान कराती है, उसी तरह '**दोषो यद्यपि**

तस्य स्याद्' उसमें दोष होते हुए भी शरणागत व्यक्ति अनन्य असहाय होकर जब मेरी शरण आता है, तब मैं उसे शरण तो देता ही हूँ, उसके सारे रोग-दोष जन्म-जन्मान्तरोंके कल्मष दूरकर उसे निर्मल भक्त बनाकर अपनी कृपाका अनुग्रही पात्र बना देता हूँ। देखिये—

अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं
कूर्मो बिभर्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे।
अम्भोनिधिर्वहति दुस्तरवाडवाग्नि-
मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति॥

(चौरपञ्चाशिका १)

भगवान् भूतभावन शंकरजीने करतलीकृत हालाहल विषको जो अंगीकार कर लिया, आज दिनतक उसे नहीं छोड़ते और कूर्म भगवान्ने इस पृथ्वीको जो अपनी पीठपर धारण कर रखा है, उसे आजतक नहीं हटाते, यह समुद्र अपनी शरणमें आयी हुई दुस्तर वाडवाग्निको आजतक अपने गर्भमें छिपाये हुए है, अतः ज्ञात है कि सुकृती-जन अंगीकृत शरणागतोंकी हर स्थितिमें रक्षा करते हैं। विभीषण तो मुझे साक्षात् षडैश्वर्यपूर्ण पुरुषोत्तम मानकर, मेरे शील-स्वभावके गुण-गान सुनकर रावणसे तिरस्कृत हो मेरी शरणमें आ रहा है; उसे तो मैं प्राणोंके समान प्यार करके सम्मानपूर्वक '**मित्रभावेन सम्प्राप्तः**' मित्र बनाकर रखूँगा। अतः चाहे वह भेद लेने आया हो और चाहे शुद्ध भावसे मित्रकी तरह शरण आता हो, उसे सम्मानपूर्वक अपने दलमें लाना चाहिये—

उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपानिकेत।
जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत॥

अंगद-हनुमान् आदि वानरोंके द्वारा अगवानी जिन लंकाधिप विभीषणकी की गयी, उन विभीषणने दूरसे ही लोकाभिराम भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणके दर्शन किये और मनमें धैर्य धारण करते हुए '**रक्षिष्यतीति विश्वासः**' इस दृढ़ विश्वासके साथ प्रार्थना की—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥
सहज पापप्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥

फिर भी—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

इस प्रकार कहते हुए विभीषणके दण्डवत् प्रणाम करनेपर शरणागतवत्सल भगवान् श्रीराम उठे और '**भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा**' विशाल भुजाओंके बीच विभीषणकी लेकर छातीसे लगा लिया। अपने आसनपर लक्ष्मणके साथ बैठाकर अपनी और परिवारकी समस्त कुशलता पूछने लगे। यह शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामकी—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा०रा० ६।१८।३३)

उदार शरणग्राहिता है और शरणागतके सदोष, सपाप होनेपर भी शरणागतिमें कोई अन्तर नहीं होता, असाधारण विलक्षणता है। सारे कुटुम्ब-परिजन, परिवारके हाथियोंके युगपत् प्रयत्न करनेपर भी जिस गजका ग्राहपाशसे उद्धार नहीं हो सका, प्रत्युत और गहनमें धँसते चले जानेपर अपने नाशको देखते हुए गजेन्द्रको एकमात्र यही त्राण दीख पाया। उसने—

उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते।

—अपनी सूँडसे कमलको लेकर श्रीनारायण भगवान्का ध्यान करते हुए उनके श्रीचरणोंमें भेंट करनेकी कामनासे आत्मत्राणका एकमात्र यही अन्तिम

साधन माना और गरुड़पर सवार हुए भगवान् श्रीहरिने सामने उपस्थित होकर कमल ग्रहण करते हुए गजका भी उद्धार कर दिया। अतः सिद्धान्ततः यह बात सिद्ध है कि—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

श्रीहरिकी भक्ति अद्भुत है। वह सभीको आश्वस्त कर देती है। उसके लिये धन-वैभव, विद्या, तप, बल, पौरुषादि किसीकी अपेक्षा नहीं। अनन्यभावसे, शुद्ध निर्मल भावसे आर्त होकर जब भक्त भगवान्‌को याद करता है और शरणागत होता है, तब उसे अभयदानरूप भगवद्भक्ति तथा उनकी असीम आत्मीय अनुरागरूपी कृपा मिलती है। भगवान्‌के आश्वासनपर भक्त यह भी नहीं सोचते कि हम पापी हैं, जन्म-जन्मान्तरोंके पाप हमारे ऐसे हैं कि हमारा उद्धार नहीं हो सकता। हममें विद्या, बल, ज्ञान-साधना, तपोबल और आराधनाके साधन नहीं हैं तो हमारा उद्धार सम्भव नहीं है। यह हमारा अपना ही दौर्बल्य है। श्रीहरिके दरबारमें पाप-कथाओंकी कोई गिनती होती ही नहीं है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

—से आप अनन्यचेता तो हृदयसे हों। वैभवसे अनुराग-साधनाकी चिन्ता न करते हुए **'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'** से तो आराधना कर ही सकते हैं। चाहिये मात्र हृदयका अनन्य शरणागत भाव—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

फूलके साथ काँटा भी तो रहता है, वह भी मालामें गुँथकर श्रीठाकुरजीके शृंगारकी शोभा बन जाता है। अतः हम पापी भी हैं, गुणहीन भी हैं तो क्या हम श्रीहरिके अनन्यभक्तोंके बीच निकृष्टकोटिके ही सही, भगवद्दास तो हो ही सकेंगे। इस आशासे हमें भगवच्छरणागति ग्रहण करनी चाहिये। महाभागवत वृत्रासुर प्रार्थना करते हैं, उनकी भावना देखिये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २४)

हरे! क्या मैं कभी आपके चरणानुरक्त दासोंके दास और उनके दासानुदासोंका अनुगामी हो सकूँगा? ('भवितास्मि'के प्रयोगकी विशेषता इसी भावके प्रदर्शनमें है) और अपने मनसे आपके पवित्र गुणानुवादोंका गान करता हुआ वाणीकी सार्थकता सिद्ध कर सकूँगा तथा इस कायासे आपकी आराधना-पूजा-अर्चनाका सौभाग्य पा सकूँगा। मुझे स्वर्गका राज्य नहीं चाहिये, मुझे ब्रह्माजीके पदका गौरव नहीं चाहिये, न मैं समस्त पृथ्वीका सार्वभौम आधिपत्य और न वैभवका सुखविलास चाहता हूँ, न योगोंकी सिद्धियाँ मुझे चाहिये, न मैं अपुनर्भव मोक्ष ही चाहता हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिये। मात्र आपके श्रीचरणोंमें ही शरणागति चाहता हूँ। यदि उपर्युक्त सारी सिद्धियाँ मिल भी जायँ और आपके चरणकमलोंकी सेवा—भक्ति-उपासना न मिले तो इन सबसे क्या लाभ? यह अनन्य भक्तोंके फक्कड़पनेकी चाह होती है। क्या ही भक्तिका फल है, क्या ही भक्तोंकी चाह है, क्या कभी किसीने ऐसी अद्भुत चाह की है—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २५)

अस्तु, भक्तवत्सल भगवान्‌की उस दयालुता और कृपालुताका विचार कीजिये, जहाँ कंसकी भेजी हुई बकासुरकी बहिन बकी पूतना; जो श्रीकृष्णको मारनेके विचारसे कपट-वेष बनाकर स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर व्रजमें आयी थी—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।

लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

उसका स्तनपान भी किया, उसके विषके साथ-साथ उसके जन्म-जन्मान्तरोंके पाप-कषायोंको भी पी गये और शुद्ध निर्मल उस माँके भावसे आयी हुई पापिनी पूतनाको भी माँकी-सी गति देनेमें कोई अन्यथा विचार नहीं किया। यहाँ भी शरणागतके प्रति प्रभुका यही कथन सार्थक है **'दोषो यद्यपि तस्य स्यात्'** दोष किसमें नहीं थे या हैं नहीं, लेकिन **'भक्तदोषेष्वदर्शनम्'** का भाव भगवान्‌की असीम भक्तानुकम्पी अनुग्रहवृत्ति-अनुकम्पावृत्ति है। इसीके भरोसे नारद और श्रीशुकमुनि-सरीखे परमहंसचूडामणि भगवद्भक्तिका उपदेश करते रहते हैं। दाक्षिणात्य भावुक आचार्योंके भाव देखिये—

अनन्याधीनः सन् भवति परतन्त्रं प्रणमतां
कृपे सर्वद्रष्टा न गणयति तेषामपकृतिम्॥

× × ×

निषादानां नेता कपिकुलपतिः कापि शबरी
कुचैला कुब्जा सा व्रजयुवतयो माल्यकृदति।
अमीषां निम्नत्वं वृषगिरिपतेरुन्नतिमति
प्रभूतैः स्त्रोतोभिः प्रसभमनुकम्पे समयसि॥

भाव यह है कि आप अनन्य हैं। अनन्य होते हुए भी **'अहं भक्तपराधीनः'** से भक्त-जनोंकी प्रेममयी भक्तिमें ऐसे क्रीतदासकी तरह भक्तवश्यताके अधीन हो जाते हैं कि जिस-किसीने भी श्रीचरणोंमें 'तवास्मि' कहकर एक बार भी प्रणाम किया कि उनकी अपकृतियोंको ध्यानमें न लाते हुए उनपर अपनी कृपाकी वर्षा करते हैं। ऐसे लोगोंमें निषादराज गुहकी क्या योग्यता या तपोबल एवं कुलबल था, जिससे उसे आपका असीम अनुग्रह मिला। कपिकुलपति सुग्रीवका भी क्या सदाचार या सेवाएँ थीं, उस भीलनी शबरीके वस्त्रोंका क्या महत्त्व था, जिसके बेर आपने ग्रहण किये। सुदामाका क्या वैभव था, कुब्जामें कौन-सी सुन्दरता थी, व्रजयुवतियोंकी क्या योग्यता थी या मथुराके माली और दर्जीकी क्या भक्ति थी? इन सारे पात्रोंकी निम्नता और वेंकटाचलपति त्रिभुवननाथकी ऐश्वर्यमयी प्रतिष्ठा, भला दोनोंकी उच्चता और निम्नताका क्या साम्य है? किंतु असीम अनुग्रह करनेकी अलौकिक विलक्षण आपकी कृपादृष्टिसरणि इस भेद-भावकी विषमताको सम कर देती है। भक्तवत्सल भगवान्‌की कृपाकी बलिहारी है। अब उपर्युक्त कथनके बीच हम अपना कल्याण सोचें और साधनापर अग्रसर हों।

शरणागत विभीषणपर रामकृपा

आइ बिभीषन सीस नवायौ।
देखतहीं रघुबीर धीर, कहि लंकापती, बुलायौ॥
कह्यौ सो बहुरि कह्यौ नहिं रघुबर, यहै बिरद चलि आयौ।
भगत-बछल करुनामय प्रभु कौ, 'सूरदास' जस गायौ॥

(सूर-रामचरितावली)

विभीषणने आकर मस्तक झुकाया (प्रणाम किया)। यह देखते ही धैर्यशाली श्रीरघुनाथजीने 'लंकापति' कहकर उन्हें सम्बोधित किया। श्रीरघुनाथजीका तो (सदासे) यही व्रत चला आ रहा है कि उन्होंने जो कह दिया (वह हो गया), उसे दुबारा कहनेकी कभी आवश्यकता नहीं पड़ी। (अतः प्रभुने जब, विभीषणको लंकापति कह दिया, तब लंका तो उनकी हो चुकी।) सूरदासजी कहते हैं—'ऐसे भक्तवत्सल करुणामय स्वामीका मैं यशोगान करता हूँ।'

विद्या-प्राप्तिके महत्त्वपूर्ण सूत्र

(एक कल्याणप्रेमी)

विद्यासे अमृत-तत्त्वकी प्राप्ति होती है—'**विद्ययाऽमृतमश्नुते।**' (शुक्लयजुः ४०।१४, ईशोप० १।११, मनु० १२।१०३)। इसीलिये विद्याका मुख्य फल विमुक्ति—अज्ञानसे मुक्ति है। कहा भी गया है—'**सा विद्या या विमुक्तये**' (विष्णुपुराण १।१९।४१), किंतु विद्या-प्राप्तिके लिये; भले ही वह लौकिक विद्या ही क्यों न हो, शिक्षा-संस्थाओंमें प्रवेश प्राप्त कर लेनामात्र ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिये महापुरुषोंद्वारा निर्दिष्ट कुछ विशेष नियमोंका पालन करना भी आवश्यक है। विद्या-प्राप्तिके तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं—श्रद्धा, तत्परता एवं संयतेन्द्रियता। विद्यार्थियोंके लिये ये तीनों सूत्र सफलताके परम साधन हैं। इन साधनोंको अपनानेपर विद्यार्थियोंके हृदयमें विद्या स्वयं स्फुरित होती है। पहला सूत्र है—श्रद्धा! गुरुके प्रति पूज्यता एवं उत्तमताका भाव एवं विश्वास होना ही 'श्रद्धा' है। गुरुके प्रति विद्यार्थीका श्रद्धावान् होना आवश्यक है। श्रद्धावान् विद्यार्थीमें विनय, सेवा-परायणता एवं सहिष्णुता आदि गुण होते हैं। श्रद्धावान् विद्यार्थी गुरुके प्रति कभी तनिक भी रूक्ष व्यवहार नहीं करता, उसकी जिज्ञासा सदैव विनययुक्त होती है। वह गुरुको नित्य प्रणाम करता है एवं उनकी सेवा करनेमें अधिक रुचि रखता है।

दूसरा सूत्र है—तत्परता। तत्परताका तात्पर्य है—लगन एवं परिश्रम। श्रद्धाके साथ-साथ विद्या सीखनेकी लगन एवं उसके लिये परिश्रम करना भी नितान्त आवश्यक है। अन्यथा श्रद्धाके नामपर शिथिलता, आलस्य एवं अकर्मण्यता आ जानेका भय रहेगा। तीसरा सूत्र है—संयतेन्द्रियता। संयतेन्द्रियताका अर्थ है मन एवं इन्द्रियोंको वशमें रखना। उनकी विषयोंसे विरक्ति हुए बिना श्रद्धा एवं तत्परता दोनों ही न तो पनप ही सकती हैं और न स्थायी ही रह सकती हैं। चंचल मन, इन्द्रिय एवं चित्तसे ज्ञान वैसे ही निकल जाता है, जैसे भिश्तीके पेटसे जल—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

(मनु० २।९९)

प्राचीन कालमें अधिकांश विद्यार्थियोंमें संयमादि गुण विद्यमान रहते थे। इसी कारण उस समयके विद्यार्थी मेधावी होते थे। उस समय संयतेन्द्रियता विद्यार्थीमें सहज ही पायी जाती है। विद्याध्ययनके समय वे लोग ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते थे। खान-पानका पूरा संयम रहता था। मनको चंचल करनेवाले पदार्थोंसे बिलकुल परहेज किया जाता था। विद्यार्थियोंका जीवन त्यागमय होता था। उनका जीवन श्रद्धामय होता था और उनका लक्ष्य विशुद्ध ज्ञान होता था। भगवद्भक्त गुरुजन विद्यार्थियोंमें दृढ़ता लानेके लिये उनकी परीक्षा लिया करते थे और कभी-कभी उनके साथ कठोरता भी बरतते थे, परंतु उन दिनों आस्तिक विद्यार्थिवर्ग सहनशील होता था, कठोरताकी कसौटीपर वह खरा उतरता था।

एकलव्य, उपमन्यु, आरुणि इत्यादि अब भी अपनी गुरुनिष्ठाके लिये स्मरणीय हैं। बालक आरुणिमें श्रद्धा, तत्परता एवं संयतेन्द्रियताकी पराकाष्ठा थी। गुरुवर धौम्यकी आज्ञा ही उसका जीवन था। वर्षाकालमें गुरुजीके खेतकी मेंड़ टूट गयी थी। यदि खेतकी मेंड़ ठीक करके बाँधको पक्का न किया जाता तो खेतीके नष्ट होनेकी पूर्ण आशंका थी। गुरुजी चिन्तित हो उठे। बालक आरुणि इसे कैसे सहन कर सकता था? गुरुवरकी आज्ञा मिली और वह खेतकी मेंड़ ठीक करनेको तैयार हो गया। आरुणिके पहुँचते-पहुँचते खेतका बाँध टूट चुका था। वर्षा तेजीसे हो रही थी। अब बेचारा अकेला आरुणि क्या करता? एक ओर खेतका बाँध ठीक करनेकी गुरु-आज्ञा थी और दूसरी ओर थी वर्षा एवं ठंड। कोई मार्ग न देखकर अन्तमें आरुणि स्वयं ही खेतकी मेड़ बनकर लेट गये। खेतमें पानी जाना बन्द हो गया; परंतु ठंड एवं वर्षाके पानीसे वे मूर्च्छित-से हो गये। रात्रि बीती, दूसरा दिन आया,

आरुणि खेतकी मेंड़ ठीक करके नहीं लौटे। अध्ययन-कालमें आरुणिको अनुपस्थित देखकर गुरुजी चिन्तित हो उठे। आरुणि बेटा! आरुणि बेटा! पुकारते-पुकारते गुरुजी खेतमें जा पहुँचे। पानीसे सर्वथा मूर्च्छित अवस्थामें खेतकी मेंड़ बने आरुणिको देखकर गुरुजी अपने आँसू रोक न सके। उन्होंने आरुणिको उठाकर हृदयसे लगा लिया और आश्रममें आये। उपचारसे आरुणि होशमें आये। 'बेटा! अब तुम्हें अध्ययनकी आवश्यकता नहीं है! तुम्हें बिना अध्ययन किये ही विद्याएँ प्राप्त हो जायँगी।' गद्‌गद कण्ठसे गुरुजीने आशीर्वाद दिया। गुरुजीके आशीर्वादसे आरुणिको सचमुच बिना पढ़े ही समस्त विद्याओंका ज्ञान हो गया और वे वेदके पारंगत विद्वान् हुए। यद्यपि आजका छात्र विद्याध्ययन एवं गुरु-सेवाका समन्वय नहीं कर पाता है, परंतु ये उदाहरण असत्य नहीं हैं। आरुणिने उपर्युक्त तीनों सूत्रोंसे ही समस्त विद्याएँ प्राप्त कर ली थीं।

अभी इस युगकी भी एक ऐसी ही घटना है। उस समय भारतपर अंग्रेजोंका शासन था और कलकत्ता भारतकी राजधानी थी। आज विश्वमें रायल सोसाइटी तथा एसियाटिक सोसाइटी नामकी विज्ञान-विद्याकी शाखाएँ सर्वत्र व्याप्त हैं। १७७२ में सर विलियम जोन्स लंदनकी रायल सोसाइटीके फेलो बने। फिर १७८० में उन्होंने स्वयं बैटेवियामें एक एसियाटिक सोसाइटीकी स्थापना की और १७८४ में इन्हीं जोन्स साहबने कलकत्तामें एसियाटिक सोसाइटीकी स्थापना की। लार्ड टीनमाउथने इनकी जीवनी छः जिल्दोंमें विस्तारसे लिखी है। विलियम साहब भारतकी विद्याओंकी गुणगाथाएँ सुनकर इसके साहित्यसे बहुत प्रभावित हुए। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि यदि विश्वको कोई अमूल्य ज्ञान-सम्पदा दे सकता है तो वह भारतवर्ष ही है। भारतवर्षके साहित्य, अध्यात्म, जीवन, दर्शन सभी आदर्श हैं। अतः इनका अध्ययन आवश्यक था। वे उन दिनों विश्वकी १२ प्रमुख भाषाओंके जानकार विद्वान् थे। १७७१ ई० में इनका पर्शियन ग्रामर प्रकाशित हुआ। अब वे प्राच्य ज्ञान एवं संस्कृत भाषाकी जानकारीके लिये भारत आना चाहते थे। अन्तमें वे उन दिनों कलकत्ता-स्थित भारतके सुप्रीमकोर्टके न्यायाधीश बनकर भारत आये।

उस समय भारतका सम्पूर्ण ज्ञान देवभाषा संस्कृतमें ही था। अन्य भारतीय भाषाओंमें पुस्तकें नगण्य-सी थीं। संस्कृत ही विश्वकी सबसे पुरातन समृद्ध भाषा है। सर विलियम जोन्सको संस्कृत भाषाका ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा हुई और चार्ल्स विकिल्सन्से उन्हें इसकी जानकारीमें पर्याप्त सहयोग मिला। फिर उनकी मित्रता कलकत्ताके कृष्णनगरके महाराजा श्रीशिवचन्द्रसे हुई। उनकी संस्कृत-ज्ञानकी अभिलाषा तीव्र थी और उन्होंने अपने मित्र राजा साहबके सम्मुख यह इच्छा व्यक्त की। कहते हैं—राजा साहब उनके लिये किसी संस्कृत विद्वान्‌की खोज करने लगे, जो उन्हें संस्कृत पढ़ा सकते। उस समयके संस्कृतके विद्वान् लोग विदेशियोंके सम्पर्कमें आनेमें अरुचि रखते थे, उन्हें उनके संगसे अपवित्र हो जानेका एवं समाजकी भर्त्सनाका भय था। अतः कोई भी विद्वान् सर विलियम जोन्सको संस्कृतकी शिक्षा देनेके लिये राजी नहीं हो रहा था। राजा साहबके बहुत चेष्टा करनेपर अन्तमें कविभूषण श्रीरामलोचनजी इस कार्यके लिये राजी हुए। उन्होंने सर विलियम जोन्सको संस्कृत पढ़ाना स्वीकार किया।

कविभूषणजीने सर्वप्रथम सर विलियम जोन्सको भारतीय विद्यार्थियोंकी गरिमा एवं श्रद्धा, तत्परता और संयतेन्द्रियताकी महिमासे अवगत कराया। सर विलियम जोन्सने भारतीय विद्यार्थियोंके ढंगको अपनाया। उन्हें तो संस्कृतका ज्ञान प्राप्त करनेकी तीव्र लालसा थी। सर विलियम जोन्सने अपनी कोठीके नीचेका कमरा बिलकुल भारतीय ढंगसे बनवाया। उस कमरेमें गुरुवर कविभूषणजीके लिये एक उच्च आसन लगवाया गया एवं सर विलियमने अपने लिये गुरुजीसे नीचे फर्शपर आसन लगाया। कमरा नित्य गंगाजलसे धोकर पवित्र किया जाता था। सर जोन्समें अपने गुरुजीके प्रति पूर्णरूपसे श्रद्धा थी। वे उनका पूर्णरूपसे आदर करते

थे। उन्हें नित्य प्रणाम करते और समय-समयपर उनकी सेवा करनेको तैयार रहते थे। इनकी विद्याध्ययनकी लगन ऐसी थी कि वे अपने गुरुजीके संकेतमात्रसे पाठ समझनेकी चेष्टा करते। अपना पाठ सीखनेमें विलियम साहबने लगन एवं परिश्रममें किसी प्रकारकी कमी न रखी। इतना ही नहीं, संयतेन्द्रियताके लिये सर विलियम जोन्सने अभक्ष्य वस्तुएँ तथा मदिरा आदिका भी सर्वथा त्याग कर दिया था। वे प्रात:काल केवल थोड़ी-सी चाय लेकर अध्ययनमें लग जाते थे। इन्हीं कारणोंसे गुरुजीके आशीर्वादसे सर विलियम जोन्स एक दिन संस्कृतके पूर्ण विद्वान् हो गये। उन्होंने स्वयं संस्कृतके कई ग्रन्थोंका अंग्रेजीमें अनुवाद भी किया और उनकी सोसाइटीसे तो अबतक हजारों संस्कृत तथा भारतीय भाषाओंके ग्रन्थ एवं जर्नलके अंक प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें इनके स्वयं लिखे हुए आलोचनात्मक निबन्ध हैं। इनका शाकुन्तलका अनुवाद तथा तत्सम्बन्धी हस्तलेखों एवं मशालोंका संग्रह अद्वितीय श्रमका कार्य था। उसीका आश्रय लेकर मोनियर विलियम्स साहबने शकुन्तलाका 'Hundred Best Books of the World' में उसका शुद्धतम मूल पाठ एवं अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराये। फिर तो सारा पाश्चात्त्य जगत् इसपर मुग्ध हो गया। सुतरां, सर विलियम जोन्सकी सफलतामें अनेक गुणोंमें उपर्युक्त तीनों सूत्र ही मुख्य थे।

सर विलियम जोन्स ही क्यों? आज भी कोई विद्यार्थी इन सूत्रोंको अपनाकर अवश्य ही विद्याध्ययनमें सफलता प्राप्त कर सकता है। परंतु आजके अधिकांश विद्यार्थी इन सूत्रोंसे दूर होते जा रहे हैं। इन सूत्रोंके प्रति उनके मनमें केवल उपेक्षा ही नहीं है; कुछ घृणा भी है और श्रद्धाका स्थान तो संशयने ले लिया है। यहाँतक कि विद्यार्थीलोग गुरुको अपनेसे भी अयोग्य समझते हैं। इससे विद्या-लाभ दुर्लभ है। तत्परताके स्थानपर भी अनुशासनहीनता आ गयी है। दिन-प्रतिदिन विद्यार्थियोंमें अनुशासनहीनता एवं उच्छृङ्खलता बढ़ती ही जा रही है। वे लगन एवं परिश्रमको भूल-से गये हैं। नकल-झगड़ा आदि तथा परीक्षामें उत्तीर्ण होनामात्र ही आजके विद्यार्थियोंका लक्ष्य रह गया है। संयतेन्द्रियताकी तो आजके विद्यार्थी आवश्यकता ही नहीं समझते। उनकी समझमें विद्यासे तप या संयतेन्द्रियताका कोई सम्बन्ध नहीं है। छात्रोंके लिये खान-पानकी शुद्धिका कोई भी अर्थ नहीं है। दिन-प्रतिदिन विद्यार्थियोंमें अभक्ष्य वस्तुएँ—मांस-अंडे एवं मदिरा आदिका प्रचार बढ़ रहा है। इन अभक्ष्य वस्तुओंका प्रभाव उनके मन एवं इन्द्रियोंपर पड़ता है, जिससे वे चंचल होते हैं। भला चंचल मनका विषयासक्त विद्यार्थी मेधावी कैसे बन सकेगा? अच्छा होता कि आजका विद्यार्थी विद्या-प्राप्तिके इन महत्त्वपूर्ण सूत्रोंपर पुन: ध्यान देकर विद्याध्ययनके अपने अमूल्य समयरूप धनका सदुपयोग करने लगते और अनुशासन-हीनता और उच्छृंखलताको पास न फटकने देते। इस प्रकार '**विद्या ददाति विनयम्**' का आदर्श पुन: स्थापित हो जाता।

सत्संगका प्रभाव

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्ध: समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मन:॥
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत:॥

'जब मुझे थोड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ, तब मैं हाथीकी भाँति मदान्ध हो गया और 'मैं सर्वज्ञ हूँ'—ऐसा समझकर मेरा मन अभिमानसे भर गया; किंतु जब बुद्धिमानोंकी संगतिसे मुझे कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ, तब मुझे ज्ञात हुआ कि 'मैं मूर्ख हूँ' और मेरा अभिमान ज्वरकी तरह नष्ट हो गया।' [**भर्तृहरिविरचित नीतिशतक**]

वेदान्त-छन्दावली—

सब हानि-लाभ समान है!

(१)

संसार कल्पित मानता, नहिं भोग में अनुरागता।
सम्पत्ति पा नहिं हर्षता, आपत्ति से नहिं भागता॥
निज आत्म में संतृप्त है, नहिं देह का अभिमान है।
ऐसे विवेकी के लिये, सब हानि-लाभ समान है!

(२)

संसारवाही बैल सम, दिनरात बोझा ढोय है।
त्यागी तमाशा देखता, सुखसे जगे है सोय है॥
समचित्त है, स्थिरबुद्धि, केवल आत्म-अनुसन्धान है।
तत्त्वज्ञ ऐसे धीरको, सब हानि-लाभ समान है॥

(३)

इन्द्रादि जिस पदके लिये, करते सदा ही चाहना।
उस आत्मपदको पायके, योगी हुआ निर्वासना॥
है शोक कारण राग, कारण रागका अज्ञान है।
अज्ञान जब जाता रहा, सब हानि-लाभ समान है!

(४)

आकाश से ज्यों धूम का, सम्बन्ध होता है नहीं।
त्यों पुण्य अथवा पाप को तत्त्वज्ञ छूता है नहीं॥
आकाश सम निर्लेप जो, चैतन्यघन प्रज्ञान है।
ऐसे असङ्गी प्राज्ञको, सब हानि-लाभ समान है!

(५)

यह विश्व सब है आत्म ही इस भाँतिसे जो जानता।
यश वेद उसका गा रहे, प्रारब्धवश वह वर्तता॥
ऐसे विवेकी सन्तको न निषेध है, न विधान है।
सुख-दुःख दोनों एकसे, सब हानि-लाभ समान है!

(६)

सुर, नर, असुर, पशु आदि जितने जीव हैं संसारमें।
इच्छा अनिच्छा वश हुए सब लिप्त हैं व्यवहारमें॥
इच्छा अनिच्छासे छुटा बस एक सन्त सुजान है।
उस सन्त निर्मल चित्त को, सब हानि-लाभ समान है!

(७)

विश्वेश अद्वय आत्मको, विरला जगतमें जानता।
जगदीशको जो जानता, नहिं भय किसीसे मानता॥
ब्रह्माण्डभरको प्यार करता, विश्व जिसका प्राण है।
उस विश्व-प्यारेके लिये, सब हानि-लाभ समान है!

(८)

कोई न उसका शत्रु है, कोई न उसका मित्र है।
कल्याण सबका चाहता है, सर्व का सन्मित्र है॥
सब देश उसको एक-से, बस्ती भले सुनसान है।
भोला! उसे फिर भय कहाँ, सब हानि-लाभ समान है!

—ब्रह्मलीन श्रीभोलेबाबाजी

नामोच्चारण तथा नामस्मरणका भेद

(डॉ० श्री श्री० रा० जोशी)

परमात्म-प्राप्तिका सर्वोत्तम एवं सरल उपाय मन्त्रजप है। इसे साधारण भाषामें नामस्मरण कहा जाता है। मन्त्रजपकी साधनाद्वारा साधक एक योगीकी अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। अबतक अनेक महापुरुष मन्त्रजपकी साधनासे पूर्णावस्थाको प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये इसे जपयोग भी कहा जाता है। भक्तिकी जो विभिन्न पद्धतियाँ बतायी गयी हैं, उनमें नाम-मन्त्र सर्वोत्तम है। अनेक महापुरुषोंका ऐसा कथन है कि मन्त्रजपमें जितनी शक्ति एवं सामर्थ्य पायी जाती है, साधनाकी अन्य पद्धतियोंमें उतनी नहीं पायी जाती। मन्त्रमें इतनी शक्ति होती है कि उसके द्वारा परमात्मा अथवा देवताके प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है तथा इस साधना-पथमें अग्रसर होनेवाले साधकको परमात्माके आनन्द-तत्त्वकी अनुभूति कम-अधिक मात्रामें होती रहती है। जिस प्रकार परमात्माकी महिमा एवं गुण अनन्त हैं, उसी प्रकार उनके नामकी महिमा तथा गुण भी अनन्त हैं। संत तुकारामने अपने 'अभंग'में कहा है कि नामकी महिमाके सम्बन्धमें क्या कहा जाय, स्वयं परमात्मा भी अपने नामकी महिमाको नहीं जान पाये हैं—

तुझ्या नामाचा महिमा। तुज न कले मेघश्यामा।

अब नामके माध्यमसे नामी (इष्टदेव या भगवान्)-का अनुसंधान किस प्रकार करना चाहिये, यह देखना होगा। नामस्मरण अथवा जपयोग-साधनाका वास्तविक स्वरूप समझनेके लिये नामोच्चारण तथा नामस्मरणमें भेदको जानना आवश्यक है। इस संसारकी प्रत्येक वस्तुको किसी-न-किसी नामसे सम्बोधित किया जाता है, अर्थात् नाम रूपका निदर्शक है। किसी नामका उच्चारण करते ही आँखों (अन्तश्चक्षु)-के सामने नामका रूप दिखायी देना चाहिये। गाय शब्दका उच्चारण करनेपर हमारी आँखोंके समक्ष गायका ही रूप अथवा चित्र उपस्थित हो जाता है, अन्य किसी वस्तुका नहीं। मोटर कहनेपर हमारे अन्तश्चक्षुओंको मोटर ही दिखायी देती है, साइकिल नहीं। सारांश यह है कि जिस देवताका नाम-स्मरण किया जाय, उसी देवताका चित्र अथवा रूप हमारी आँखोंके समक्ष उपस्थित होना चाहिये। तभी वह सही अर्थमें नामस्मरण होगा, अन्यथा वह नामस्मरण न होकर नामोच्चारण ही रह जायगा। महान् संत श्रीएकनाथजीने नामोच्चारण एवं नामस्मरणके भेदकी अपने 'अभंग'में अत्यन्त सुन्दर व्याख्या की है—

नाम वेता है वैखरी। चित्त धावे विषयावरी॥
कैसे होता है स्मरण। स्मरणा माजी विस्मरण॥
नामरूपां नाही मेल। अवधा वावेचा गोंधल॥

मनुष्य नामोच्चारण मुखसे करता है, परंतु उसका मन इस संसारकी अनेक वस्तुओंकी ओर दौड़ता रहता है। वह देवताके नामका स्मरण मुँहसे करता है, परंतु संसारकी वस्तुओंकी ओर उसका ध्यान बँट जानेके कारण उसे अपने इष्टका विस्मरण होता रहता है, अर्थात् वह मनमें अपने आराध्यको भूलता है। उसका ध्यान अन्य वस्तुओंकी ओर रहनेके कारण भगवान्का रूप उसकी आँखोंके समक्ष नहीं आ पाता है। सन्त एकनाथजी कहते हैं कि इस प्रकारका नामस्मरण वास्तवमें नामस्मरण न होकर नामोच्चारण ही रह जाता है। इस प्रकारका नामस्मरण किसी भी प्रकारसे उपयोगी नहीं कहा जा सकता और न नामोच्चारण करनेवाले व्यक्तिको उससे कोई लाभ प्राप्त हो पाता है।

इस 'अभंग'से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे अनेक व्यक्ति, जो स्वयं नामस्मरण करनेकी बात कहते हैं, साथ ही नामस्मरणसे कुछ लाभ भी हो ऐसी आशा करते हैं, उन्हें वास्तवमें लाभ क्यों नहीं हो पाता है? जिस प्रकारके नामस्मरणकी व्याख्या उपर्युक्त पंक्तिमें की गयी है, उसी प्रकारका नामस्मरण मनुष्यद्वारा किये जानेपर उसका क्या प्रभाव होगा, यह संत एकनाथजीने निम्न दो पंक्तियोंमें स्पष्ट किया है—

नवल स्मरणाचीटेव। स्मरणा माजी प्रगटे देव॥
एका जनार्दनी नाम। नामी प्रगटे आत्माराम॥

नामस्मरणका पर्याप्त अभ्यास होनेपर नामस्मरण सतत एवं सहज भावसे होने लगता है। सतत नामस्मरणके अभ्याससे साधकको उसके हृदयमें देवताके रूपका

दर्शन होने लगता है। नामस्मरणकी उच्चावस्थामें ध्यान भी सतत होने लगता है और साधक अपने हृदयमें परमात्माके निर्गुण दर्शन पाकर धन्य हो जाता है।

प्रारम्भिक अवस्थामें व्यक्ति सही अर्थमें नामस्मरण नहीं कर पाता। ऐसा नामस्मरण न होनेसे उसे दु:ख भी होता है। इस वास्तविकताको ध्यानमें रखकर ही सभी सम्प्रदायोंमें नामस्मरणके लिये 'जपमाला' के उपयोगकी परम्परा दिखायी देती है। संसारके सभी धर्मोंके महापुरुषोंके चित्रोंमें उनके हाथमें माला दिखायी देती है; इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्थामें 'जपमाला' नामस्मरणके अभ्यासको बढ़ानेके लिये सर्वमान्य साधन मानी गयी है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि नामोच्चारणके साथ नामीका अनुसंधान न होनेपर भी ऐसा जप बिलकुल ही व्यर्थ हो जाता है—ऐसा समझनेका कोई कारण नहीं है। संत तुकारामने ही कहा है—

नये तरी मनी वसो। परि वाचे तरी वसो॥

मनमें भले ही नामस्मरण न हो तो कोई हर्ज नहीं, कम-से-कम मुखसे तो नामोच्चारण होता रहे, यह भी कोई कम संतोषकी बात नहीं है। परंतु यह नामस्मरणकी कनिष्ठ अवस्था है, इस बातको ध्यानमें रखना आवश्यक है।

प्रारम्भमें ही कहा गया है कि परमात्मप्राप्तिका नामस्मरण अन्य साधनाओंकी तुलनामें अत्यन्त सरल और सर्वोत्तम उपाय है। अत: बौद्धिक दृष्टिकोणसे भी मनुष्यके लिये यह साधना किस प्रकार सरल है, यह देखना उपयुक्त होगा।

इस संसारके समस्त प्राणियोंमें मनुष्यको सर्वश्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि उसे प्रकृतिने बुद्धि, मन, वाणी-जैसी दिव्य शक्तियाँ प्रदान की हैं, जो अन्य प्राणियोंमें इतनी विकसित मात्रामें नहीं पायी जाती हैं। उसी प्रकार मनुष्यको पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय एवं मनको मिलाकर कुल ग्यारह इन्द्रियाँ भी उपलब्ध हैं, जिनके माध्यमसे वह संसारमें उपलब्ध भौतिक सुखका अनुभव करता है। मन सभी इन्द्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। उपनिषदोंमें मनको विचार और वासनाओंका समुच्चय कहा गया है। मनमें विचार उठते हैं और वासनाओंसे प्रेरित मन स्वत: इन्द्रियोंको प्रेरित करता है।

विचार करनेकी शक्ति मनुष्यमें जन्मसे ही विद्यमान रहती है। बढ़ती हुई आयुके साथ मनुष्यकी इन्द्रियोंका विकास होता है तथा उसके भौतिक संसारके ज्ञानमें भी वृद्धि होती है, जिसके कारण उसकी इच्छाएँ (भौतिक कामनाएँ) भी बढ़ती जाती हैं तथा विचार-शक्ति भी और अधिक विकसित हो जाती है। विचार एवं वासना एक दूसरेसे सम्बद्ध तत्त्व हैं। विचार वासनाको जन्म देता है और वासना विचारको। विशिष्ट उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उत्पन्न होनेवाली इच्छा अथवा वासना मूलत: एक विचार ही होती है। कोई इच्छा जब मनमें जन्म लेती है, तब मन अस्वस्थ हो जाता है और तबतक अस्वस्थ बना रहता है, जबतक उस इच्छाकी संतुष्टि नहीं हो जाती। इस अस्वस्थताको ही दु:ख कहा जा सकता है। इच्छा अथवा वासनारहित मन सुखी कहा गया है; क्योंकि इच्छाके अभावमें वह दु:खसे मुक्त होता है। जैसे ही इच्छाकी पूर्ति हो जाती है, मन कुछ समयके लिये सुखका अनुभव करता है; परंतु नवीन इच्छाका जन्म होनेपर वह पुन: दु:खका अनुभव करने लगता है। इस प्रकार सारे कार्यकलापोंका केन्द्र मनुष्यका मन या विचार होता है।

परमात्माके नामस्मरणको भी एक विचारकी भाँति समझनेसे अन्य विचार उस समय मनमें न होनेके कारण वह श्रेष्ठ है। मनमें केवल परमात्माका विचार होनेके कारण अन्य विचार नष्ट हो जाते हैं। जब भी परमात्माका प्रतिबिम्ब मनके अन्त:पटलपर पड़ता है, तब वह कितना आनन्दमयी अवस्थामें होगा, इसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है। उक्त अवस्थाको पहुँचे हुए महापुरुष परमात्माके समान सम्मानित होते हैं। नाम-स्मरणकी इस प्रक्रियाको मनुष्य सरलतासे अपना सकता है।

साधनाकी अन्य पद्धतियाँ—जैसे ध्यान, प्राणायाम, योग आदिसे मनुष्य अनभिज्ञ होता है। यदि वह किसी पद्धतिको अपनाता है तो उसे सतत प्रयासके बाद भी सीमित सफलता प्राप्त होती है; जबकि नामस्मरण अल्पकालमें ही सफलता देनेवाली विश्वसनीय साधना है।

श्रीहनुमान्‌जीकी व्यवहार-कुशलता

[व्यक्तिकी पहचान तथा तदनुरूप व्यवहारका महत्त्व]

(डॉ० श्रीआदित्यजी शुक्ल)

अपने परिवार, समाज, कार्यालय, व्यवसाय एवं अन्य क्षेत्रोंमें हमें नियमित रूपसे विभिन्न प्रकारके लोगोंसे मिलना और उनसे व्यवहार करना पड़ता है। लोगोंकी सार्थक पहचान तथा तदनुरूप उससे उचित व्यवहार भी जीवनमें सफलताको निर्धारित करता है। यदि व्यक्तित्वके सन्दर्भमें इस विषयपर सूक्ष्म रूपसे विचार करें तो तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं—

१. व्यक्तिकी सही पहचान।

२. व्यक्तिकी समयपर पहचान।

३. व्यक्तिको पहचाननेके पश्चात् उससे समुचित व्यवहार।

इन तीनों मापदण्डोंपर शत-प्रतिशत खरे उतरनेवाले बिरले लोग होते हैं। बहुतसे लोगोंको तो व्यक्तिकी सही पहचान ही नहीं होती। कुछ लोग होते हैं, जिन्हें व्यक्तिकी पहचान तो होती है, मगर समय निकल जानेके बाद। इसके लिये उन्हें या तो दुर्जनोंके साथ कटु अनुभवसे गुजरना पड़ता है या फिर श्रेष्ठ व्यक्तियोंसे बिछुड़ना पड़ता है। दोनों ही स्थितियोंमें नुकसान पहले ही हो चुका होता है। तीसरी स्थिति तो इन दो स्थितियोंसे भी ज्यादा पीड़ादायक है, जब व्यक्तिमें औरोंको समयपर ही परख लेनेकी क्षमता तो होती है, मगर वे उनसे उचित व्यवहार करना नहीं जानते।

सामान्यत: यह भी देखा गया है कि श्रेष्ठ व्यक्तिको श्रेष्ठकी तथा दुष्ट व्यक्तिको दुष्टकी पहचान करनेकी क्षमता होती है। किंतु आदर्श स्थितिमें किसी व्यक्तिमें श्रेष्ठ एवं दुष्ट—दोनोंको ही समान रूपसे पहचान लेनेका कौशल होना चाहिये। यही विशेषता हनुमान्‌जीके व्यक्तित्वका महत्त्वपूर्ण गुण है।

हम इस सन्दर्भमें सुन्दरकाण्डमें वर्णित हनुमान्‌जीकी लंकायात्राके दौरान घटनेवाली घटनाओंपर चिन्तन करते हैं। जब हनुमान्‌जी लंकाकी ओर प्रस्थान करते हैं तो सीताजीसे मिलनेसे पहले उनकी भेंट अन्य पाँच लोगों क्रमश: मैनाक, सुरसा, समुद्रकी निशिचरी, लंकिनी और विभीषणसे होती है।

इन पाँचोंसे हनुमान्‌जीका कोई पूर्व परिचय नहीं था। वे उन्हें लंका जाते समय मार्गमें ही मिलते हैं। हनुमान्‌जी उन पाँचोंकी न केवल तुरन्त और सही पहचान करते हैं बल्कि उन सबके साथ समुचित एवं अलग-अलग व्यवहार करते हैं। 'मैनाक' को प्रणाम करते हैं, 'सुरसा' को माँ कहते हुए उसके साथ कौतुक करते हैं। समुद्रमें रहनेवाली 'निशिचरी' के साथ बिना किसी वार्तालापके सीधे उसका वध करते हैं, 'लंकिनी' पर मुष्टिका प्रहार करते हैं और 'विभीषण'से गले मिलकर मित्रता करते हैं। जीवनमें सफलता पानेके लिये हनुमान्‌जीके इस अनोखे एवं रोचक व्यवहारके मर्मको समझना नितान्त आवश्यक है। इन पाँचों घटनाओंपर एक-एक करके विचार करते हैं।

१. हनुमान्‌जीकी मैनाकसे भेंट—जब हनुमान्‌जी लंकाकी ओर प्रस्थान करते हुए समुद्रके ऊपरसे जाते हैं, तब उनकी पहली मुलाकात 'मैनाक' से होती है। हनुमान्‌जीकी थकावट दूर करनेके लिये समुद्र मैनाकको उनकी सेवामें भेजते हैं।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रम हारी॥

मानसमें वर्णन आता है कि 'मैनाक' सोनेका एक पर्वत है। यहाँ कितना सुन्दर संकेत है कि जब आप बड़े लक्ष्यके लिये समर्पित होकर कर्म करना प्रारम्भ करते हैं, तब रास्तेमें अनेक प्रकारके सुख-सुविधा एवं प्रलोभन पहले ही मिलना शुरू हो जाते हैं। कई लोग तो इन्हीं प्रलोभनोंमें उलझकर लक्ष्यसे भटक जाते हैं। इसमें यह आवश्यक नहीं कि प्रलोभन हमेशा किसी गलत व्यक्तिद्वारा या गलत भावनासे ही दिया जाता हो। कई बार यह कार्य परिवारके सदस्य, कोई शुभचिन्तक या आपसे कृतज्ञ लोग भी आपको सुविधा पहुँचानेके लिये कर सकते हैं। वस्तुत: मैनाक भी अपनी कृतज्ञताके कारण

ही हनुमान्‌जीके सम्मुख प्रस्तुत होते हैं। हनुमान्‌जी यह तुरन्त समझ जाते हैं और मैनाकद्वारा प्रस्तुत सेवाका तिरस्कार नहीं करते अपितु संकेत रूपमें उसे हाथोंसे छूकर समादर करते हैं और साथ ही प्रणाम करते हुए कहते हैं कि 'हे मैनाक, मैं श्रीरामचन्द्रजीका कार्य सम्पन्न किये बिना विश्राम नहीं कर सकता।

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

इस प्रकार हनुमान्‌जी मैनाककी पहचान एक शुभचिंतकके रूपमें करते हुए उसके द्वारा प्रस्तुत सेवाका सम्मान करते हैं, किंतु उसमें उलझे बिना ही अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो जाते हैं।

२. हनुमान्‌जीकी सुरसासे भेंट—जब हनुमान्‌जी मैनाकसे विदा लेकर आगे बढ़ते हैं तो उन्हें 'सुरसा' मिलती है। सुरसाका परिचय सुन्दरकाण्डमें तुलसीदासजी सर्पोंकी माताके रूपमें कराते हैं।

जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानैं कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता॥

इसके पश्चात् सुरसा जो बात हनुमान्‌जीसे कहती है वह समझना विशेष महत्त्वका है। वह हनुमान्‌जीसे कहती हैं कि ***'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा'*** अर्थात् आज देवताओंने मुझे भोजन दिया है। यह सुनते ही हनुमान्‌जी समझ जाते हैं कि सुरसा संस्कारवान् एवं ईश्वरके प्रति कृतज्ञ है। यदि वह मुझे खाना भी चाहती है तो वह उसका स्वाभाविक गुण है; क्योंकि सर्पिणी अपने स्वभाववश स्वयंके बच्चोंको खा जाती है। सुरसाके मुँहसे देवताओंके प्रति कृतज्ञताके शब्द सुनकर हनुमान्‌जी उसे 'माई' अर्थात् माँ शब्दसे सम्बोधित करते हैं। साथ ही कहते हैं 'हे माँ अभी मैं अपने प्रभु श्रीरामकी सेवामें हूँ। मैं इस कार्यको पूर्ण करके लौट आऊँ और सीताजीकी खबर प्रभु श्रीरामको सुना दूँ। उसके पश्चात् मैं स्वयं आकर तुम्हारा आहार बन जाऊँगा। हे माता! मैं सत्य कहता हूँ, अभी मुझे जाने दो।'

राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥

इस तरहसे हनुमान्‌जी न केवल सुरसाकी पहचान करते हैं अपितु अपने बल और बुद्धिके समुचित प्रयोगसे उसे प्रभावित भी करते हैं। फलस्वरूप जो सुरसा कुछ देर पहले हनुमान्‌जीको खा जानेकी बात कह रही थी, अब वही प्रसन्न होकर हनुमान्‌जीको आशीष देती है—

राम काजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान॥

अब सुरसासे आशीर्वाद प्राप्तकर हनुमान्‌जी हर्षित होकर आगेकी यात्रा प्रारम्भ करते हैं।

३. हनुमान्‌जीकी निशिचरीसे भेंट—सुरसाके बाद हनुमान्‌जीकी जिससे भेंट होती है, वह समुद्रमें रहनेवाली एक राक्षसी है। जिसका नाम सिंहिका है। तुलसीदासजी उसे केवल निशिचरीके नामसे सम्बोधित करते हैं। वह निशिचरी आकाशमें उड़नेवाले जीव-जन्तुओंको जलमें उनकी परछाईं देखकर ही पकड़ लेती थी। जिससे वे जन्तु उड़ नहीं सकते थे और जलमें गिर पड़ते थे। इस प्रकार वह सदा आकाशमें उड़नेवाले जीव-जन्तुओंको अपना शिकार बनाया करती थी। उस निशिचरीने हनुमान्‌जीसे भी वही छल करना चाहा। परंतु हनुमान्‌जी तुरंत उसके कपटको पहचान लेते हैं तथा बिना कोई समय गवाँये, उस राक्षसीका वध करके समुद्र पार करते हैं।

सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा॥
ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥

इस प्रसंगमें छिपे तथ्यपर विचार करनेसे हमें ज्ञात होता है कि हमारे जीवनमें भी निशिचरीके समान बहुत-से लोग आते हैं। वे हमारी परछाई अर्थात् नाम, यश, प्रतिभा, सम्मान, अवसर इत्यादिको छलपूर्वक ग्रसना चाहते हैं और किसी भी माध्यमसे अपना शिकार बनाना चाहते हैं।

हमें ऐसे लोगोंसे सतत सावधान रहना चाहिये तथा हनुमान्‌जीके समान स्वयंको बल-शक्तिसे सम्पन्न भी रखना चाहिये, जिससे आत्मरक्षाके निमित्त शत्रुका शमन

भी किया जा सके। पुष्ट शरीर और दृढ़ व्यक्तित्ववाले व्यक्तिके समक्ष शत्रु प्राय: सिर ही नहीं उठाते।

इस निशिचरीको मनुष्यके भीतर पाये जानेवाले मनोविकारोंके प्रतीकके रूपमें भी समझ सकते हैं। जो हमारी सफलताके लिये सबसे ज्यादा घातक हैं। सुन्दरकाण्डका यह प्रसंग हमें यह सूत्र देता है कि हम अपने व्यक्तित्वमें छिपे अनाम एवं अनजान विकारोंको बुद्धिपूर्वक पहचानकर, उनका बलपूर्वक दमन करें। इसके पश्चात् ही सफलताकी राहमें आगे बढ़ा जा सकता है।

४. हनुमान्‌जीकी लंकिनीसे भेंट—जब हनुमान्‌जी मच्छरके समान सूक्ष्म रूप धारणकर लंकामें प्रवेश करनेका प्रयास करते हैं, उस समय उनकी भेंट 'लंकिनी' नामकी एक राक्षसीसे होती है। लंकाकी द्वारचारिका लंकिनी सूक्ष्म दृष्टिवाली है। वह हनुमान्‌जीको अति लघुरूपमें अँधेरेमें भी देख लेती है और कहती है कि तुम मेरा निरादर करके या मुझसे बचकर यहाँसे नहीं जा सकते।

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥
नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥

लंकिनी इससे आगे हनुमान्‌जीसे कहती है कि 'अरे मूर्ख! तूने मेरा भेद नहीं जाना है। जितने चोर हैं, वे सब मेरे आहार हैं।'

जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥
मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर बमत धरनीं ढनमनी॥

इतना सुनते ही हनुमान्‌जी उसपर मुष्टिका-प्रहार करते हैं, जिससे वह खूनकी उलटी करती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ती है। हनुमान्‌जीके मुष्टिका-प्रहारसे ही लंकिनीको समझमें आ जाता है कि यह मच्छरके समान रूपवाला पुरुष कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। फिर वह अपनेको सम्भालकर उठी और डरके मारे हाथ जोड़कर विनती करने लगी—

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका॥

इस प्रसंगको हम आजके सन्दर्भमें समझें तो लंकिनी एक प्रतिभावान् प्रहरी है, जो एक विशेष जिम्मेवारीके साथ लंकाके प्रवेशद्वारमें पहरा करती है। हनुमान्‌जीसे पहले ही सम्बोधनमें 'शठ' शब्दका प्रयोग करती है। उसके इस सम्बोधनसे हनुमान्‌जी भलीभाँति जान जाते हैं कि लंकिनीमें संस्कार एवं व्यक्तिको पहचाननेकी सही समझ नहीं है। यहाँ लंकिनीकी बातोंमें एक बड़ा विरोधाभास भी है। वह कहती है कि जो चोर है, वह मेरा आहार है। वस्तुतः चोर तो रावण है, जो सीताजीको चुराकर लंका ले आया है। यह बात लंकिनी भी जानती है, मगर वह असली चोर रावणको अपना आहार बनानेकी जगह चोरको पकड़नेकी चेष्टा रखनेवाले हनुमान्‌जीको अपना आहार बनानेका प्रयास करती है। अर्थात् लंकिनी जो कह रही है और उसकी जो जिम्मेवारी है, वह उसके विपरीत कार्य करते हुए प्राप्त शक्तियोंका दुरुपयोग कर रही है। हनुमानजी मुष्टिकासे प्रहारकर उसे सही कर्तव्योंका ज्ञान कराते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो लंकिनी पहले हनुमानजीको आहार समझ रही थी, अब वही उनकी सहायक बनकर लंकामें प्रवेश करने तथा सब कार्य सम्पन्न करनेकी प्रेरणा देती है।

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥

५. हनुमान्‌जीकी विभीषणसे भेंट—इस प्रसंगके अन्तिम क्रममें हनुमान्‌जीकी भेंट विभीषणसे होती है। जब हनुमान्‌जी सीताजीकी खोजमें लंकाके भीतर विचरण कर रहे थे, तब उनकी दृष्टि एक ऐसे घरपर पड़ती है, जहाँ श्रीरामके आयुध धनुष-बाणके चिह्न अंकित थे। इसके साथ ही हनुमान्‌जी उस घरमें तुलसीके पौधोंके समूहको देखकर प्रसन्न हो जाते हैं।

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥

विभीषणके घरके परिदृश्यको बाहरसे ही देखकर हनुमान्‌जी जान जाते हैं कि यह किसी सज्जनका घर है। किंतु हनुमान्‌जी मनमें विचार करते हैं कि लंका एक

मायावी नगरी है, यहाँ राक्षसोंका ही वास है। इसलिये किसीपर सहज विश्वास करना ठीक नहीं है। हनुमान्‌जी मनमें यह विचार करते रहते हैं। उसी समय विभीषण जग जाते हैं।

लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥
मन महुँ तरक करैं कपि लागा। तेहीं समय बिभीषनु जागा॥

जैसे ही विभीषण जागते हैं, हनुमान्‌जी दूरसे उनके क्रिया-कलापोंपर नजर रखते हैं। कुछ देरके बाद विभीषणके मुखसे श्रीराम-नाम सुनते ही हनुमान्‌जी जान जाते हैं कि यह अवश्य ही सज्जन व्यक्ति है और यह जानकर उनका हृदय हर्षसे भर जाता है।

राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा। हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा॥

लोगोंको पहचाननेका हनुमान्‌जीका यह विशिष्ट तरीका है। विभीषणके घरमें मंगलमय प्रतीक-चिह्नोंको देखनेके बाद भी हनुमान्‌जीके मनमें संशय बना रहता है, किंतु जब वे विभीषणके मुखसे श्रीरामका नाम सुनते हैं तो उन्हें विश्वास हो जाता है कि विभीषण सन्त पुरुष हैं; क्योंकि हनुमान्‌जी जानते हैं कि श्रीरामका नाम मायासे परे है। श्रीरामके नामका सुमिरन करनेवाला व्यक्ति राक्षस नहीं हो सकता। हनुमान्‌जी तय करते हैं कि मैं इस सन्तपुरुषसे हठपूर्वक परिचय करूँगा। क्योंकि उन्हें पता था कि साधुसे मिलनेसे लाभ हो न हो, हानि कभी नहीं होती।

एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी। साधु ते होइ न कारज हानी॥

और इस तरह हनुमान्‌जी विभीषणकी विचारपूर्वक पहचानकर मित्रता करते हैं। इस भेंटकी भी अपनी एक विशेषता है। इससे पहले हनुमान्‌जीकी मैनाक, सुरसा, राक्षसी एवं लंकिनीसे भेंट हुई थी, मगर वे सब-के-सब स्वयं आगे आकर हनुमान्‌जीसे मिले थे। इसके विपरीत विभीषणसे मिलनेके क्रममें हनुमान्‌जी स्वयं आगे बढ़कर उनसे मिलते हैं और मित्रता करते हैं। और यही मित्र आगे चलकर न केवल सीताजीकी खोजमें हनुमान्‌जीकी मदद करते हैं बल्कि श्रीरामद्वारा रावण-वध करनेमें भी सहायक होते हैं।

हम सब भी अपने परिवार, समाज, कार्यालय, व्यवसाय एवं कर्मक्षेत्रमें ऐसे ही पाँच प्रकारके लोगोंसे मिलते हैं। इसमेंसे पहले प्रकारके लोग 'मैनाक' जैसे होते हैं, जो हमारे हितैषी एवं शुभचिंतक बनकर हमारे समक्ष सुख-सुविधा मुहैया कराकर या कई प्रकारके प्रलोभन देकर हमें बड़े लक्ष्यके प्रति समर्पित होनेसे अनजाने ही रुकावट बनते हैं।

दूसरे प्रकारके लोग 'सुरसा' के समान होते हैं, जो साधनसम्पन्न एवं संस्कारी तो होते हैं, मगर अपने स्वभाव एवं अहंकारके कारण या तो हमारी परीक्षा लेते हैं या हमको नुकसान पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं।

तीसरे प्रकारके लोग समुद्रकी निशिचरी जैसे होते हैं। जिनके नाम, परिचय एवं उद्देश्यका ज्ञान हमें नहीं रहता, मगर वे हमारी छाया अर्थात् यश, वैभव, प्रसिद्धि इत्यादिको देखकर हमें ग्रसनेकी योजना बनाते रहते हैं। हम इसे स्वयंके भीतर उपस्थित मनोविकार भी मान सकते हैं।

चौथे प्रकारके लोग 'लंकिनी' जैसे होते हैं। जो समाजमें किसी विशेष जिम्मेदारीकी तरह होते हैं। मगर वे समाजसे प्राप्त शक्ति एवं संसाधनका दुरुपयोगकर हमें नुकसान पहुँचाना चाहते हैं। इनकी आँखें इतनी पैनी होती हैं कि ये हमारी छोटी-से-छोटी गतिविधिको भी पहचान लेते हैं और हमको आगे बढ़नेसे रोकनेका प्रयास करते हैं।

पाँचवें एवं अन्तिम प्रकारके लोग 'विभीषण' जैसे होते हैं। जो समाजमें धर्म, न्याय, सत्कर्म तथा पुरुषार्थके पक्षधर होनेके कारण समाजमें उपेक्षित होते हैं।

हम अपने कर्मक्षेत्रमें बल और बुद्धिका समुचित प्रयोग करते हुए इन पाँच प्रकारके लोगोंकी यथाशीघ्र पहचान तथा सबसे यथायोग्य व्यवहार करनेकी कला हनुमान्‌जीके चरित्रसे सीखकर अपना मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

भक्ति करो, भवतारक राम हैं!

(डॉ० श्रीसुनीलकुमारजी सारस्वत)

एक राजा अपने देशकी आन्तरिक स्थिति जाननेके लिये वेश बदलकर घूमते हुए एक नगरमें पहुँचे, वहाँके एक हवलदारसे बातचीतके उद्देश्यसे मार्ग पूछा तो हवलदारने अकड़कर कहा—'मूर्ख! मैं सरकारी कर्मचारी हूँ, मेरा काम रास्ता बताना नहीं है'। राजाने नम्रतापूर्वक कहा—यदि सरकारी आदमी भी किसी यात्रीको रास्ता बता दे तो कुछ हर्ज नहीं है? खैर कोई बात नहीं। मैं किसी दूसरेसे पूछ लूँगा, पर इतना बता दीजिये कि आप किस पदपर कार्य करते हैं? हवलदारने ऐंठते हुए कहा—अन्धा है क्या, मेरी वर्दीको देखकर पहचानता नहीं कि मैं कौन हूँ? राजाने कहा—शायद आप पुलिसके सिपाही हैं। उसने कहा—नहीं, उससे ऊँचा। राजा—तब नायक हैं? हवलदार—उससे भी ऊँचा। राजा—हवलदार हैं? हवलदारने कहा—हाँ, अब तू जान गया कि मैं कौन हूँ, पर तू इतनी पड़ताल क्यों कर रहा है, तू कौन है?

राजाने कहा—मैं भी सरकारी आदमी हूँ। हवलदारने सकपकाते हुए पूछा क्या तुम सिपाही, नायक, हवलदार हो? राजाने भी उसी अंदाजमें कहा—उससे भी ऊँचा। दरोगा, सूबेदार, कप्तानसे भी ऊँचा। अब तो हवलदार घबराने लगा, उसने पूछा—तब आप मन्त्रीजी हैं? राजाने कहा—भाई, बस एक सीढ़ी और बाकी रह गयी है। अब हवलदारने गौरसे देखा तो सादे वेशमें राजाको पहचान लिया, वह गिड़गिड़ाते हुए क्षमा-दया माँगने लगा। राजाने मीठी वाणीमें ही कहा—पदकी दृष्टिसे तुम चाहे कुछ भी हो, पर व्यवहारकी कसौटीपर बहुत नीचे हो। यदि ऊँचा बनना चाहते हो तो पहले मानव बनो, सहनशील और नम्र बनो, अपनी ऐंठ कम करो, क्योंकि तुम जनताके सेवक हो।

× × ×

मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही करता है और फिर वैसा ही बन जाता है। विदुरनीति कहती है—

पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः।
नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः॥
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः।
वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः॥

अर्थात् बार-बार पाप करनेसे मनुष्यकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है और जिसकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो चुकी है, ऐसा व्यक्ति सदैव पाप ही करता है। मनुष्यका मन बड़ा चंचल होता है, जो अशान्तिका कारण होता है। इच्छाएँ भी चंचल मनकी ही देन हैं। एक इच्छा पूरी होते ही, दूसरी इच्छा मनमें जन्म लेती हैं। संसाधनोंकी बढ़ोत्तरी जीवनमें सुखका क्षणिक आनन्द दे सकती है, लेकिन इनसे चिरस्थायी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इच्छाओंकी प्रवृत्ति यदि बुरी है, तो वह पापकी राहपर ढकेल देती है, जिससे मानवीय गुण नष्ट हो जाते हैं। इच्छाएँ ही तृष्णा बढ़ाती हैं, तृष्णाके कारण ही स्वार्थकी संकीर्णतासे ग्रस्त होकर मानव हिंसक और दुराचारी हो जाता है।

मनुष्यके जीवनमें विषम परिस्थितियोंके आगमनके संकेत आन्तरिक जीवनमें अतृप्तिकी और बाह्य जीवनमें नियतिकी उपस्थितिसे मिलने लगते हैं। जब अन्तःकरणकी गरिमा शुष्क और शिथिल होने लगती है, तो मनुष्यके जीवनमें अतृप्ति और नियतिकी आहटें आने लगती हैं। अन्तस्‌में यदि श्रद्धा और विश्वास हो तो अभावग्रस्त परिस्थितियोंमें भी हमारी प्रफुल्लताको कोई नहीं छीन सकता।

महाभारतमें दुर्योधन कहता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

अर्थात् मैं धर्मको जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और मैं अधर्मको भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। मेरे हृदयमें स्थित कोई देव है, जो

मेरेसे जैसा करवाता है, वैसा ही मैं करता हूँ। इस प्रकार नीति-अनीति, धर्म-अधर्म क्या है—दुर्योधन यह जानता था, परंतु फिर भी धर्ममें कभी उसकी रुचि नहीं हुई, प्रवृत्ति नहीं हुई और अधर्म करनेमें उसे कभी ग्लानि नहीं हुई। सोचनेयोग्य बात यह है कि आखिरकार वह कौन सी प्रवृत्ति है, जो व्यक्तिको बलात् पापकर्ममें प्रवृत्त करती है?

अर्जुन भी कहते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

अर्थात् मनुष्य न चाहते हुए भी मानो विवश होकरपापका आचरण करता है। इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

(गीता ३। ४०)

अर्थात् इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—कामके अधिष्ठान हैं, इन्हींके द्वारा काम जीवको मोहित कर देता है और जीवात्मा न चाहते हुए भी पापका आचरण करता है। अतः पापकर्मोंमें प्रवृत्तिका मूल कारण है कामवासना।

मानव-जीवनका गम्भीरतासे अध्ययन करें तो यह सत्य सहजतासे मुखर होता है कि चिन्ताएँ खुले आकाशकी तरह अनन्त और गहरे सागरकी तरह अगाध होती हैं, इनकी अपनी प्रकृति और प्रभाव होते हैं। नकारात्मक चिन्ताएँ जीवनकी दिशा अवरुद्ध कर देती हैं, जबकि कुछ चिन्ताएँ (सकारात्मक) आश्चर्यजनक रूपसे उत्प्रेरकका कार्य भी करती हैं। चिन्ताएँ जीवनके साथ चलती हैं और ये जीवनके साथ ही समाप्त होती हैं। शायद यही कारण है कि चिन्तारहित जीवनकी सम्भावना मात्र कोरी कल्पना ही है, किंतु चिन्ताओंपर चिन्तन और आत्मविश्लेषण यहीं समाप्त नहीं हो जाता है।

प्रसिद्ध लेखक चर्चिलने एक बार कहा था कि जब भी कभी मैं अपने जीवनकी चिन्ताओंके बारेमें पीछे लौटकर देखता हूँ तो मुझे उस बूढ़े व्यक्तिकी कहानी याद आ जाती है, जिसने अपनी मृत्युशय्यापर कहा था कि वह सारी उम्र असंख्य चिन्ताओंसे ग्रसित रहा और भयसे परेशान भी, परिणामस्वरूप पापकर्ममें लिप्त रहा, लेकिन उनमेंसे अधिकांश चिन्ताएँ कभी भी घटित नहीं हुईं। हम चिन्ताओंसे मुँह नहीं मोड़ सकते, लेकिन उनके बोझतले खुदके जीवनको अव्यवस्थित होनेसे तो बचा ही सकते हैं।

योगवासिष्ठका एक प्रसिद्ध वचन है—**'जन्मान्तर-शताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः। सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्।'** अर्थात् असंख्य जन्मोंकी अभ्यस्त ये संसारकी मिथ्या वासनाएँ बिना चिर अभ्यासके क्षीण नहीं हो सकतीं। जबतक वासना है, तबतक कर्म होते रहेंगे। कर्म समाप्त करना है, तो वासनाको मारना होगा, वह भगवान्‌का नाम लेनेसे मरती है। मनुष्यको जीवनमें सार्थक चीजें प्राप्त करनेके लिये लक्ष्य बनाना अत्यन्त आवश्यक है। जब स्पष्ट लक्ष्य होता है तो हम जो कर्म करते हैं, उसमें आनन्दकी अनुभूति होती है, इससे हमारा जीवन अनुशासित होता है। इसलिये हमारे जीवनका एक उचित लक्ष्य होना चाहिये, जो हमें सचेष्ट करता रहे। लक्ष्य-निर्धारणसे लाभ यह होता है कि हमें कर्म करनेकी सही दिशा मिल जाती है।

अमेरिकाके पूर्व राष्ट्रपति फ्रैंकलिन पीयर्स अपने वकालतके पेशेमें शुरुआतमें असफल हो गये, लेकिन उन्होंने यह लक्ष्य बना लिया था कि ९९९ बार असफल होनेपर भी वे वकालत ही करेंगे। बादमें वे अपने दृढ़ संकल्पके चलते न केवल सफल वकील बने बल्कि अमेरिकाके राष्ट्रपति भी।

कमियाँ तो हर व्यक्तिमें हैं, लेकिन आगे वहीं बढ़ पाता है, जो अपनी कमियोंको स्वीकारते हुए उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करे और अपनी क्षमताओंमें नित्य-निरन्तर निखार लाये। आत्मिक प्रगतिके चार चरण बताये गये हैं—आत्मचिन्तन, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण और आत्मविकास। आत्मचिन्तनमें हम अपने बारेमें सोचते हैं और अपने किये जानेवाले कर्मोंको देखते हैं।

यदि इसमें कोई गलती हुई है तो उस भूलको सुधारनेका प्रयास; साथ ही उस गलतीको न दोहरानेका संकल्प ही आत्मसुधार है, जिससे हम ग्रन्थिमुक्त होकर आत्मविकासकी ओर अग्रसर होते हैं।

जीव रामको पाना चाहता है, पर उसका मन उससे काम चाहता है, भोग चाहता है, लोभ चाहता है, मोह चाहता है। पर ये दोनों एक साथ कैसे सम्भव हैं? कहा गया है—***'जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।'*** अर्थात् जहाँ राम हैं, वहाँ काम हो नहीं सकता और जहाँ काम है, वहाँ रामका होना सम्भव नहीं, वैसे ही जैसे अन्धकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते।

रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे—एक हाथी है, उसे नहला-धुलाकर छोड़ दो, तब फिर वह क्या करेगा? मिट्टीमें खेलेगा और शरीरको फिरसे गन्दा कर लेगा। कोई उसपर बैठे तो उसका शरीर भी गन्दा अवश्य होगा। लेकिन यदि हाथीको स्नान करानेके बाद बाड़ेमें बाँध दिया जाय, तब फिर हाथी अपना शरीर गन्दा नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार मनुष्यका मन भी एक हाथीके समान है। एक बार ध्यान-साधना और भगवान्के भजनसे वह शुद्ध हो गया तो उसे स्वतन्त्र नहीं कर देना चाहिये।

ईश्वरका भजन, उसका निरन्तर ध्यान एक बाड़ा है, जिसमें मनको बन्द रखा जाना चाहिये, तभी सांसारिक संसर्गसे उत्पन्न दोष और मलिनतासे बचाव सम्भव है। भगवान्को बार-बार याद करते रहनेसे मन अस्थायी सुखोंके आकर्षण और पापसे बचा रह सकता है और अपने जीवनके स्थायी लक्ष्यकी याद बनी रह सकती है। उस समय दूषित वासनाओंमें पड़नेसे स्वतः भय उत्पन्न होगा और मनुष्य उस पाप-कर्मसे बच जायगा, जिसके कारण वह बार-बार अपवित्र और मलिन हो रहा था।

भक्ति एक क्षुद्र जीवरूपी पत्थरको भी बहुमूल्य रत्नमें परिवर्तित कर देती है। जबतक संसारमें आसक्ति है, तबतक भक्ति सम्भव नहीं है—

जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़ै हरि भजै, भक्त कहावै सोय॥

यह दृष्टि ही साधकको श्रेयोमार्गका दर्शन कराती है। आवश्यकता है मन, वचन और तनसे भजन करनेकी। भगवान्का चिन्तन मनका भजन है, नामजप और गुणगान वचनका भजन है तथा भगवद्भावसे की हुई जीव-सेवा तनका भजन है। मन, कर्म और वचनसे हम अपनी समस्त कामनाओंसहित स्वयंको परमात्माके श्रीचरणोंमें अर्पित कर दें और स्वर गूँजने लगे—

अब सौंप दिया इस जीवनका, सब भार तुम्हारे हाथों में।
उत्थान-पतन अब मेरा है, सरकार तुम्हारे हाथों में॥

अन्तमें, पिताजी डॉ० गणेशदत्त सारस्वतके सामयिक छन्दका स्मरण करते हुए अपनी वाणीको विराम देता हूँ—

कर्म सभी जग बंधन रूप, बने दुख द्वंद्व के हेतु सकाम हैं।
मन्युता-गर्व से मन्यु में मग्न हैं, जीवन-चक्र लिए अविराम हैं।
धोता नहीं मल है मल को कभी, काम गुलाम न मुक्ति के धाम हैं।
भेद-विभेद को भेद अभेद हो, भक्ति करो भवतारक राम हैं।

परम कल्याणका साधन

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता। सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥
मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति। नालं स दुःखमोक्षाय सङ्गो वै दुःखलक्षणः॥

(ना० पूर्व० ६०। ४४-४५)

पाप-कर्मसे दूर रहना, सदा पुण्यका संचय करते रहना, साधु पुरुषोंके बर्तावको अपनाना और उत्तम सदाचारका पालन करना—यह सर्वोत्तम श्रेयका साधन है। जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे मानवशरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहमें डूब जाता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप है, वह कभी दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकता।

तीर्थ-दर्शन—

श्रीकृष्णजन्मभूमि मथुराके प्राचीन मन्दिर

(आचार्य डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी)

मथुरा नगरका जितना धार्मिक दृष्टिसे महत्त्व है, उतना ही ऐतिहासिक दृष्टिसे भी है। देशका ऐसा कोई प्रसिद्ध तीर्थ नहीं, जो मथुरामण्डलमें प्रसिद्ध न हो या मथुराका उससे किसी-न-किसी प्रकार सम्बन्ध न हो।

अयोध्या, काशी, हरिद्वार, अवन्ति, काञ्ची—सभीके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थल मथुरामण्डलमें हैं। तीर्थराज प्रयाग भी यहाँ चातुर्मासमें निवास करता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक सम्राटोंने इस नगरीको अपनेसे किसी-न-किसी प्रकार सम्बन्धित किया है। प्राचीन देवमन्दिर धार्मिक और ऐतिहासिक दोनोंके ही समन्वित रूपमें अतीतकी स्मृतियोंका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

मथुरामें यात्री आते हैं और प्रसिद्ध विश्रामघाटपर उन्हें यमुनापुत्र मिलते हैं, जो मथुराके प्रसिद्ध स्थलोंका परिचय देते हुए पूर्वपरम्पराकी रक्षा करते हैं।

विश्रामघाट—विश्रामघाटपर वाराहजीने हिरण्याक्षका वधकर विश्राम ग्रहण किया था। द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णने कंसको मारकर विश्राम लिया था। वाराहपुराणमें विश्राम-घाटको अद्वितीय तीर्थ लिखा है—

श्रमो नश्यति मे शीघ्रं मथुरामागतस्य हि।
विश्रमणाच्चैव विश्रान्तिस्तेन संज्ञा कृता मया॥

तथा—

न केशवसमो देवो न माथुरसमो द्विजः।
न विश्रान्तसमं तीर्थं सत्यं सत्यं वसुन्धरे॥

प्रातःकाल और सायंकाल श्रीयमुनाजीकी आरतीके समय करबद्ध भावुक भक्तोंके समक्ष जब एक साथ बहुत-से घण्टे बजते हैं, तब यहाँका दृश्य देखते ही बनता है।

मन्दिर द्वारकाधीश—श्रीद्वारकाधीशजी विश्राम-घाटके समीप विशाल मन्दिरमें विराजमान हैं। वल्लभकुल-सम्प्रदायके आचार्य श्रीव्रजभूषणलालजी महाराजके संरक्षणमें इनकी सेवा-पूजा प्रचलित है। द्वारकाधीशकी मूर्ति ग्वालियरमें सुप्रसिद्ध पारखवाडे नामक स्थानसे नींव खोदते समय पारिख गोकुलदासजीको मिली थी। पारिखजी महाराज दौलतराय सिंधियाके दीवान थे। नागाओंके अपार धनके साथ इस मूर्तिको वे मथुरा लाये और यहाँ मन्दिर निर्माणकर ठाकुरजीको विराजमान किया। यह मन्दिर आषाढ़ कृष्ण अष्टमी, सं० १८७१ में बनकर तैयार हुआ था।

इस मूर्तिका कोई निश्चित काल निर्धारण नहीं किया जा सका है, इससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट है।

वाराहजी—यह वाराहजीका मन्दिर है। मानिक चौक मुहल्लेमें यह मन्दिर बना है। समीप ही श्रीद्वारकाधीशजी हैं। वाराहजीकी मूर्ति अत्यन्त प्राचीन है। इसकी एक कथा भी मिलती है—

प्राचीनकालमें एक मान्धाता नामक राजा थे। मान्धाताकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें वाराह-मूर्ति सेवाके लिये दी थी। मान्धातासे यह मूर्ति कपिल मुनिको मिली और कपिलने इसे इन्द्रको दिया।

इन्द्रसे इन्द्रजित् ले गया और रावणवधके पश्चात् विभीषणसे श्रीरामने केवल वाराहजी ग्रहण किये और इन्हें अयोध्यामें स्थापित किया। अयोध्यासे एक बार शत्रुघ्नजी मथुरा पधारे थे और माथुर ब्राह्मणोंके आग्रहपर उन्होंने लवण नामक असुरका वध किया था।

शत्रुघ्नजीको जब मथुराका राज्य रामने दिया तो वे वाराहजीको अपने साथ मथुरा लाये और तबसे यह मूर्ति मथुरामें ही विद्यमान है।

द्वितीय कथाके अनुसार वाराहजीने हिरण्याक्षको मारकर यहाँ विश्राम लिया था, तभीसे यह मन्दिर बना हुआ है। कपिलवाराह, वाराहदेव, नारायण, लांगल और वामन नामसे ये प्रसिद्ध हैं। वाराहके दर्शनोंका पुण्य पुष्कर-स्नान और गयाके पिण्डदानके समान वर्णित है। द्वादशीके दिन इनकी परिक्रमा करनेसे पृथ्वी-परिक्रमाका पुण्य मिलता है।

पद्मनाभ—यह मन्दिर महौलीपौर मुहल्लेमें विद्यमान है। इसमें पद्मनाभजीकी मूर्ति है, जिसे भगवान् श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभने अपने समयमें स्थापित किया था। इस मूर्तिमें आधा भाग हरिका और आधा भाग हरका है। अत: इसका विशेष महत्त्व है।

गतश्रम नारायण—यह मन्दिर गतश्रम टीला मुहल्लेमें है। गतश्रम-नारायणकी मूर्ति अत्यन्त प्राचीन है। अन्तर्गृही-परिक्रमामें आचार्य श्रीवल्लभमुनिसे अद्यावधि यात्री दर्शन अवश्य करते हैं। मन्दिर जीर्ण अवस्थामें है।

मथुरादेवी—यह मथुराकी अधिष्ठात्री देवी हैं। शीतला पायसा नामक स्थानमें यह विद्यमान हैं। इस मन्दिरमें एकत्रित माथुरोंका विनाश अहमदशाह अब्दालीने किया था। अत: इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। अन्तर्गृही-परिक्रमामें प्रत्येक यात्री यहाँ आता है।

दीर्घविष्णु—यह मन्दिर मनोहरपुरा नामक स्थानमें है। वर्तमान मन्दिरका निर्माण बनारसके राजा पटनीमलने करवाया था। भगवान् दीर्घविष्णुकी मूर्ति बड़ी भव्य है। मथुरामें कंसके मल्लोंके विनाशके समय भगवान्ने जो दीर्घ रूप धारण किया था, यह उसकी परिचायिका है।

चैत्र शुक्ल द्वादशीके दिन इसके पूजनसे दु:खोंकी निवृत्ति होती है।

केशवदेव—यह मन्दिर मथुरा नगरके पश्चिममें बना हुआ है। प्राचीन मथुरा यहींपर बसी हुई थी। भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमि भी यहीं है। कंसका कारावास यहीं था। इसके भग्नावशेष आज इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। भगवान्के धामके कारण आक्रमणकारियों, लुटेरोंके अनेक क्रूर आघात इस मन्दिरने सहन किये हैं और अनेक बार नष्ट होते हुए भी अपनी स्मृति बनाये रखनेमें यह स्वयं समर्थ रहा है। इस समय इस स्थानमें भारतका अद्वितीय भागवत भवन—श्रीराधाकृष्ण-मन्दिर स्थित है।

महमूद गजनवीके समय इस मन्दिरका ऐश्वर्य बढ़ा-चढ़ा था; फलत: उसने इसे नष्ट कर दिया था। कालान्तरमें वीरसिंह बुन्देलाने ३३ लाख रुपयेकी राशिसे इसका जीर्णोद्धार करवाया, जिसे औरंगजेबने अपनी क्रूरताका परिचय देते हुए धराशायी ही नहीं किया, एक मसजिदका निर्माण भी करा दिया था। आजसे २०० वर्ष पूर्व ग्वालियरके महाराजने इसके कुछ भागोंकी रक्षा की थी।

महाविद्या—यह मन्दिर केशवदेवसे आगे परिक्रमामार्गमें विद्यमान है। अपनी शैलीका मथुरामें यह एक ही मन्दिर है। इसमें महाविद्याकी मूर्ति है। कहा जाता है कि महाविद्याकी प्रतिष्ठा पाण्डवोंने की थी। वर्तमान मन्दिरका निर्माण १८वीं शतीमें पेशवाओंने किया था।

चामुण्डा—यह मन्दिर शाक्त-सम्प्रदायका प्रसिद्ध तीर्थ है। योनिकी आकृतिमें चामुण्डाकी मूर्ति है। मूर्तिके हाथ-पैर आदि अंग नहीं हैं। सिंदूरके लेपसे विशाल शिला-खण्ड आवृत है। वैसे कोई इसे 'छिन्नमस्ता' कहते हैं और कोई 'सप्तशती' में वर्णित चण्ड-मुण्डविनाशिनी 'चामुण्डा' से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। नगरकी यह आराध्या देवी हैं।

गणेशजी—यह मन्दिर वृन्दावनमार्गमें है। यमुना-तटपर एक विशाल मिट्टीके शिखरपर मन्दिर निर्मित है। गणेशजीकी बुद्धिमत्ताका यह परिचायक है। एक बार गणेश और कार्तिकेयमें होड़ हुई कि पृथ्वीकी परिक्रमा कौन जल्दी करके आये। कार्तिकेय तो पृथ्वीकी ओर दौड़े; परंतु गणेशजीने विष्णुभगवान् (वाराह)-की परिक्रमा कर ली, जिनकी दंष्ट्रापर पृथ्वी स्थित थी। तबसे गणेश यहाँ विद्यमान है। इस मूर्तिमें अनेक देवी-देव उत्कीर्ण हैं। माघमासमें पंचामृत स्नानके समय सर्वांगके दर्शन कराये

जाते हैं। इसी प्रकार दूसरी गणेश-प्रतिमा दशभुजी गणेशकी नगरके मध्यमें है। जिसकी दश भुजाएँ हैं। यह मनुष्यके आकारसे भी बड़ी प्रतिमा है।

गोकर्णनाथ— मथुराकी प्राचीन मूर्तियोंमें गोकर्णनाथ भी विलक्षण हैं। यह शिवजी की प्रतिमा है। हाथमें कुंडी-सोटा लिये हैं। इस प्रकारका चिह्न भारतमें अन्यत्र कहीं नहीं है। पुराणके अनुसार यहाँ भागवतमें वर्णित प्रसिद्ध धुन्धुकारी प्रेतके भाई गोकर्णने तपस्या की थी, तभीसे 'गोकर्णतीर्थ' नामसे इसकी प्रसिद्धि है।

भूतेश्वर महादेव— भूतेश्वर महादेव मथुरापुरीके कोटपाल (कोतवाल) हैं। मथुराके संकल्पमें प्रत्येक व्यक्ति आज भी 'भूतेश्वरक्षेत्रे' कहकर इनका स्मरण करता है। इनकी प्रतिमा अर्ध मनुष्यके आकारकी लम्बाईकी है और स्वयं निःसृत है। इसी प्रकार रंगेश्वर महादेवके सम्बन्धमें भी कथानक प्रचलित है कि यह मूर्ति कंसवधके पश्चात् कृष्ण-बलरामके बलका गान करती हुई भूमिसे निःसृत हुई थी।

श्रीतोटकाचार्यका मार्मिक उपदेश

(श्रीरामसहायजी गोटेचा)

भारतवर्षके सुदूर दक्षिणप्रदेश केरलके कालटी ग्राममें भगवान् शंकराचार्यका प्रादुर्भाव हुआ था। आपने प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखकर तथा अनेक ग्रन्थोंकी रचना करके संसारको दिव्य दृष्टि प्रदान की।

भगवत्पादके अनेक शिष्य थे, जिन्हें वे समझाते थे कि वेद किस प्रकार अभेदका—एकताका दर्शन कराता है। उनके अनेक शिष्योंमें चार शिष्य प्रमुख थे—तोटकाचार्य, पद्मपादाचार्य, हस्तामलकाचार्य और सुरेश्वराचार्य। तोटकाचार्य गिरि ब्राह्मण थे। उन्होंने १७९ श्लोकोंमें समस्त वेदवाङ्मयका सार प्रस्तुत किया था, जो तोटक छंदमें निबद्ध था, इसलिये स्वयं भगवत्पादने उनका नामकरण तोटक करके उन्हें वे तोटक नामसे पुकारने लगे और इस तरह वे कालांतरमें तोटकाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हो गये। इन्हीं तोटकाचार्यको भगवत्पादने भारतकी चारों दिशाओंमें अपने द्वारा स्थापित चारों मठोंमें तृतीय उत्तराम्नाय ज्योतिर्मठके प्रथम आचार्यके रूपमें अभिषिक्त किया। इस प्रकार भगवत्पादकी अनन्य कृपासे तोटकाचार्य उनके चार प्रमुख शिष्योंमें एकके रूपमें प्रसिद्ध हुए, चारों दिशाओंमें ख्याति प्राप्त की। पूज्यपादके समान प्रतिभा होनेसे इनकी गणना आचार्यके प्रमुख शिष्योंमें होने लगी। उन्होंने एक ग्रन्थ 'श्रुतिसारसमुद्धरणम्' लिखा, जो आज भी एक प्रसिद्ध कृति है। इसमें तोटक-छन्दोबद्ध कुछ ही श्लोकोंमें समस्त वेदका सार प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने पुस्तकके उपसंहारके १७१वें श्लोकमें स्पष्ट किया है कि 'तुम अपनेको जैसा समझते हो, वैसे हो नहीं, और तुम वास्तवमें जैसे हो, वैसा अपनेको समझते नहीं हो। संसारकी सारी समस्याएँ इसी नासमझीसे पैदा हुई हैं। बस इतनी-सी बात यदि समझमें आ जाय, तो फिर कुछ समझनेको बाकी नहीं रहता और उपनिषदोंसे बड़ा कोई प्रमाण इसमें नहीं है। स्वयं पौराणिक ऋषि पिप्पलादने भी अपने शिष्योंके देहात्मभावके निवारणके लिये यही और इतना ही उपदेश दिया था। इसलिये यह नहीं समझना कि मैंने जो भी कुछ कहा है, वह कल्पना मात्र है। मैंने जो भी कुछ कहा है, वही प्रामाणिक है, वही वास्तविक है, इसलिये उसपर श्रद्धा करो।'

इयदेव मयोपनिषत्सु पदं
परमं विदितं न ततोऽस्त्यधिकम्।
इति पिप्पलभक्ष इवाभ्यवदद्
ह्यवशिष्टमतिं विनिवारयितुम्॥

(श्रुतिसारसमुद्धरणम् १७१)

अस्तु, पिप्पलादावतारका प्रसंग भी हमें शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थोंमें पढ़नेको मिलता है। महर्षि दधीचि व उनकी पत्नी सुवर्चा दोनोंकी अगाध शिवभक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् शिवने ही महासाध्वी सुवर्चाके गर्भसे 'पिप्पलाद' नामसे अवतार धारणकर जगत्का कल्याण किया था और अनेक लीलाएँ की थीं, जो आज भी स्मरण की जाती हैं—

एवं लीलावतारो हि शंकरस्य महाप्रभोः।
पिप्पलादो मुनिवरो नानालीलाकरः प्रभुः॥

संत-चरित—

श्रीभूमानन्ददेव—एक विलक्षण जीवन

(श्रीविश्वनाथजी सराफ)

सदियोंसे भारतवर्ष महापुरुषोंकी जन्म एवं कर्मभूमि रहा है। यहाँ कुछ ऐसे भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने साधारण व्यक्तिकी तरह जीवन-यापन करते हुए अपने जीवनको जन-सेवामें समर्पितकर उनके आध्यात्मिक उन्नयनका मार्ग प्रशस्त किया है। ऐसे महापुरुष जनसाधारणमें इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि लोगोंको पता भी नहीं चलता कि वे किसी अवतार-पुरुषकी आभामें पल रहे हैं। ऐसे ही एक महामानव सदानन्द चक्रवर्तीका आविर्भाव ९ अगस्त सन् १९१८ ई०को फरीदपुर (वर्तमानमें बंगलादेश)-में हुआ था, जो आगे चलकर भूमानन्ददेवके नामसे विख्यात हुए। इनके पिता श्रीवैद्यनाथ चक्रवर्ती जेलर और माता गौरा देवी सती-साध्वी धर्मप्राणा नारी थीं। इनका पैतृक निवास बर्दवान जिलेका खान्द्रा ग्राम था, परंतु आगे चलकर इनका परिवार बर्दवान जिलेके ही बक्तारनगर और फिर रानीगंजमें स्थायी रूपसे रहने लगा।

'होनहार बिरवानके होत चीकने पात' बचपनसे ही इनकी असाधारण प्रतिभाका आभास मिलने लगा था। वर्ष १९२६ ई०में राजशाही सरकारी कोलेजियेट स्कूलमें तृतीय कक्षामें पढ़नेके लिये इनका नाम लिखवाया गया। इनका पूरा छात्रजीवन अभूतपूर्व सफलताका इतिहास रहा है। कम उम्रसे ही पाठ्यक्रमकी पुस्तकोंके अतिरिक्त गम्भीर विषयोंकी पुस्तकें पढ़नेकी इनमें रुचि रही और धार्मिक पुस्तकोंके प्रति विशेष झुकाव रहा। वर्ष १९४० ई०में सफलताका कीर्तिमान स्थापित करते हुए रिकॉर्ड नम्बरोंसे इन्होंने अँगरेजी साहित्यमें एम०ए०की परीक्षा प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्णकर विश्वविद्यालयमें प्रथम स्थान प्राप्त किया।

४ फरवरी सन् १९४१ ई०को इन्होंने राजशाही सरकारी कॉलेजमें पश्चिम बंगाल शिक्षा-सेवाके अन्तर्गत अध्यापन शुरू किया। आगे चलकर उसी कॉलेजमें इनके अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिके शिक्षक डॉ० सुबोध सेनगुप्ता उप-प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए। कालान्तरमें डॉ० सेनगुप्ताने एक पुस्तक लिखी Sadanand Chakraborty—Teacher and Scholar. यह भी एक विलक्षण घटना थी। छात्रोंको अपने शिक्षकोंपर लिखते एवं शोध करते बहुत सुना है, किंतु किसी शिक्षकद्वारा और वह भी पद्मभूषण डॉ० सुबोध सेनगुप्ता-जैसे स्वनामधन्य शिक्षकका अपने छात्रकी प्रतिभाको प्रकाशित करते हुए पुस्तक लिखना एक विरल घटना है। उसी कॉलेजमें दर्शन-विभागका भार अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिके विद्वान् गोपीनाथ भट्टाचार्यके सुपुर्द था। इन्होंने गोपीनाथ भट्टाचार्यसे दर्शनशास्त्रकी शिक्षा ली। यहींसे इनकी ईश्वर-दर्शनकी अभिलाषा प्रबल होती चली गयी।

सन् १९४६ ई०में आप प्रख्यात हुगली मोहसिन कॉलेजमें अँगरेजी साहित्यके अध्यापक नियुक्त हुए। यहींसे जहाँ इनकी शिक्षकके रूपमें ख्याति दूर-दूरतक फैलने लगी, वहीं इनके अन्तर्मनमें प्रकाशकी ज्योति जलने लगी। फलस्वरूप सद्गुरुकी खोजमें ये भटकने लगे। श्रीरामकृष्ण परमहंस-जैसा गुरु मिले तो दीक्षा लें। खेल तो जैसे सजा-सजाया था। एक दिन हुगलीमें गंगा-

किनारे श्रीसीतारामदास ओंकारनाथसे साक्षात्कार हो ही गया। अन्तर्यामी सीतारामने सदानन्दके मनकी बात भाँप ली। रामकृष्णके रूपमें दर्शन दिये। सन् १९५२ ई०में सदानन्दको दीक्षा देकर उनका आध्यात्मिक नामकरण कर दिया। इस तरह सदानन्द भूमानन्द हो गये। ये दीक्षा लेनेके पहलेसे ही प्रतिदिन हुगली जिलेके चुचड़ा शहरके प्राचीन काली-मन्दिरमें तथा दयामयी काली-मन्दिरमें प्रात: जाने लगे थे। वहीं बैठकर जप करते थे। माँ कालीकी इनपर असीम कृपा थी। एक दिन ये सूर्योदयके बहुत पहले मन्दिर चले गये। मन्दिरका दरवाजा बन्द था। वापस आने लगे। तभी मन्दिरके अन्दरसे प्रकाश आता दिखायी पड़ा। मन्दिरकी दक्षिण दिशाकी ओरका छोटा दरवाजा खुला था। माँके चरण भी दक्षिणकी ओर घूम गये। इतनेमें मन्दिरके अन्दरसे नूपुरकी ध्वनि सुनायी पड़ने लगी। ऐसा आभास हुआ कि जैसे माँ शिशुरूप धारण करके जप करनेके लिये इनका आह्वान कर रही हैं।

पचासका दौर चुनौतीपूर्ण और घटनाओंसे भरपूर था। सन् १९५२ ई०में सरस्वती-पूजाके दिन प्रथम साधारण निर्वाचनमें इनकी भी निर्वाचन-अधिकारीकी ड्यूटी पड़ी। परंतु सरस्वती-पूजाके दिन किसी भी तरहका लिखने-पढ़नेका काम इन्होंने अस्वीकार कर दिया। अत: कॉलेजसे त्यागपत्र दे दिया। सरकारका कोई भी दबाव इन्हें विचलित नहीं कर सका। इन्होंने अपना पूरा जीवन माँके चरणोंमें अर्पित कर दिया। सन् १९५२ ई०में ही दार्जिलिंगमें इनके तबादलेका आदेश आया। इन्होंने दार्जिलिंग जानेसे इसलिये इनकार कर दिया; क्योंकि इनकी माताजी गंगाजीसे दूर नहीं रहना चाहती थीं। कलकत्ता उच्च-न्यायालयके एक न्यायाधीशके हस्तक्षेपसे सरकार यहाँतक तैयार हो गयी कि सदानन्द यदि एक दिनके लिये भी दार्जिलिंग जाकर सरकारी आदेशका पालन कर लें तो सरकार दूसरे दिन ही इनके मनोनुकूल कॉलेजमें इनका तबादला करवा देगी, परंतु नौकरी कहाँ इनका लक्ष्य था! अड़ गये सो अड़ गये। छोड़ दी सरकारी नौकरी। अध्यापनका अन्तिम पड़ाव रहा बर्दवान विश्वविद्यालय। साधुके वेषमें चले गये अँगरेजी साहित्यमें एम०ए०का क्लास लेने। इन्होंने अपने गुरुका स्मरण करते हुए कक्षामें प्रवेश किया। जब पढ़ाना आरम्भ किया तो पूरी कक्षा मन्त्रमुग्ध हो गयी। इसके बाद छात्रोंसे छनकर जो समाचार आते, उससे यही निष्कर्ष निकलता कि इस तरहका अँगरेजी साहित्यका विद्वान् न भूतो न भविष्यति। एम०ए०में आठ भाग होते हैं। स्वभावत: एक प्राध्यापक एक भागमें महारत हासिल करनेमें सफल होता है। इनके छात्रोंकी मान्यता है कि सदानन्दका सभी आठों भागोंपर समान अधिकार था।

इसी दौरान इन्होंने साहित्य और सत्यकी साथ-साथ साधना आरम्भ की, एक ओर तो शेक्सपियरके नाटकोंका सम्पादन किया तो दूसरी ओर अपने गुरु अनन्तश्री सीतारामदास ओंकारनाथकी जीवनी लिखकर संसारको इस अवतारी पुरुषका परिचय दिया।

साठके दशकमें गुरुदेवने इन्हें वाराणसी जाकर एक महीनेतक भूमिगत रहकर तपस्या करनेका आदेश दिया। तपस्या पूर्ण होनेपर दीक्षाकी जिम्मेदारी सौंपी, ताकि गुरु-परम्परा स्थायित्व पा सके। यहींसे इनका जनकल्याण-यज्ञ आरम्भ हुआ।

अँगरेजी, बंगला और संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् होनेके साथ-साथ इनका ज्योतिष और पतंजलिके योगशास्त्र एवं दर्शनपर अच्छा-खासा अधिकार था। हनुमान्‌जीके ये अनन्य भक्त थे। यद्यपि अष्टसिद्धि की इन्होंने कभी कामना नहीं की, फिर भी अपने भक्तोंपर यदा-कदा की गयी असम्भव-सी लगनेवाली कृपाकी बौछारसे इसका संकेत अवश्य मिलता था।

जयगुरु-सम्प्रदायके मन्त्री होनेके नाते इन्हें कलकत्ता-मुख्यालयमें अधिक समय देना अपेक्षित हो गया था, परंतु इनका लक्ष्य तो कहीं और था। विश्वविद्यालयसे अवकाश लेनेके बाद अपने एक योग्य छात्र और उपयुक्त पात्र विट्ठल रामानुजको जयगुरु-सम्प्रदायके मन्त्री-पदका भार सौंपकर अपना अधिकांश समय ये रानीगंज-जैसे छोटे शहरमें व्यतीत करने लगे।

रानीगंजमें रहते हुए इन्होंने भारतीय संस्कृति और धर्म-प्रचारके लिये सनातन-संघकी स्थापना की। प्रत्येक सप्ताह बृहस्पतिवारको अपने आश्रममें अथवा रानीगंज या आस-पासके शहरोंमें प्रवचनकर सनातन-धर्मके प्रति साधारण नागरिकोंकी रुचि जगायी और कलि-युगमें नामके महत्त्वका प्रचार किया। श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी कहते थे कि उनमें और सदानन्दमें कोई भेद नहीं है। इतना ही नहीं; प्रतिवर्ष ओंकारनाथदेव भूमानन्ददेवका आविर्भाव-दिवस स्वयं मनाते थे।

आजके इस तथाकथित आधुनिक युगमें सनातन-धर्मका जो ह्रास हुआ है, उससे शिक्षाजगत् भी अछूता नहीं है। ईसाई मिशनरी स्कूलोंमें बच्चोंको पढ़ाना मध्यवित्तके अभिभावकोंके लिये प्रतिष्ठाका प्रतीक बन गया है। बचपनमें जो संस्कार बच्चोंमें डाले जाते हैं, वे ही अन्ततक मनुष्यके चरित्रनिर्माणमें सोपानका काम करते हैं। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इन्होंने भारतीय संस्कृतिपर आधारित गुरुकुल-विद्यापीठकी स्थापना की। इस तरह अँगरेजी साहित्यके शोधकर्ताओंका मार्गदर्शन करनेवाले सदानन्द चक्रवर्ती नर्सरीके बच्चोंकी कक्षा स्वयं लेने लगे। आज गुरुकुल-विद्यापीठ उनके बताये हुए आदर्शपर चलकर इस क्षेत्रमें भारतीय संस्कृतिका केन्द्रबिन्दु बननेकी ओर अग्रसर है।

इसके अतिरिक्त इनकी प्रेरणासे इनके शिष्योंद्वारा रानीगंजके निकट बक्तारनगरमें स्थापित भूमानन्द-विद्यापीठ और कई आश्रम एवं विद्यालय भारतीय संस्कृतिके प्रचारकेन्द्रके रूपमें उभर रहे हैं।

१२ जून सन् १९९४ ई०को इस विलक्षण अवतारी प्रतिभाने अपनी लीला समेट ली। लीला समेटनेकी घटना भी अलौकिकतासे भरपूर थी। अन्तिम श्वास लेनेके पहलेसे इनके रोम-रोमसे प्रकाशकी किरण प्रस्फुटित होकर नर्सिंग-होमके पूरे कमरेको प्रकाशमान करने लगी। ऐसा लगता था कि जाते-जाते वे जीवनभरके संचित प्रकाशका विकिरणकर अपने लाखों शिष्यों और भक्तोंपर उसे बिखेर रहे हैं, ताकि उनकी स्थूल अनुपस्थितिमें वे गुमराह न हो जायँ।

ठाकुर ओंकारनाथदेव और भूमानन्ददेव—इन दोनों महामानवोंने कलियुगके अशान्त मानवको उद्धारका सरल साधन बतलानेके लिये ही पृथ्वीपर अवतार लिया था। इन्होंने नामकी महिमाको पुनः स्थापितकर ठोंक-बजाकर आश्वासन दिया है कि इस कलियुगमें केवल तारक-ब्रह्मनाम—'**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥**' का जपकर मनुष्य नादज्योतिकी उच्च आध्यात्मिक स्थितितक पहुँच सकता है।

सच्चा कर्मयोगी

(डॉ० श्रीश्याममनोहरजी व्यास)

उन दिनों महात्मा गाँधी सेवाश्रममें निवास करते थे। एक दिन एक कार्यकर्ताने गाँधीजीसे पूछा—'बापू! आप किस व्यक्तिसे सबसे अधिक प्रभावित हैं?'

इसपर गाँधीजीने उत्तर दिया—'वैसे तो मैं सभी स्वयंसेवकों एवं कार्यकर्ताओंके कार्यसे प्रभावित हूँ, पर सबसे अधिक भाई रायचन्दसे प्रभावित हूँ।'

'ऐसा क्यों?' एक व्यक्तिने पूछा।

तब गाँधीजीने कहा—'भाई रायचन्द एक सच्चे एवं ईमानदार व्यापारी हैं। कलकत्तामें जब भी मैं उनकी गद्दीपर जाता तो उनके पास कोई धार्मिक पुस्तक अवश्य रखी रहती। पुस्तकमें मनको छूनेवाली कोई बात होती तो उसे वे अपनी डायरीमें नोट करते। डायरी लिखना मैंने उनसे ही सीखा है। जब भी मैं उनकी दुकानपर पहुँचता तो वे कोई धार्मिक चर्चा प्रारम्भ कर देते। वे वीतरागी स्वभावके व्यक्ति रहे हैं। सांसारिक जीवन जीते हुए भी वे सन्तपुरुष थे। रायचन्दजीमें मुझे सच्चे कर्मयोगीके दर्शन हुए।'

गो-महिमा—

'गावः पवित्रं मांगल्यम्'

(श्रीरामचन्द्रजी तिवारी, एम० ए० (संस्कृत), धर्मविशारद)

हमारा देश भारत सदासे धर्म-प्रधान रहा है। इसके कल्याणके लिये गो-रक्षा अनिवार्य धर्म्य कर्त्तव्य है। संसारके जो उपकार गोमाताने किये हैं, उनके महत्त्वको जानते हुए भी जो लोग गौकी उपेक्षा करते हैं, गो-रक्षाके प्रश्नपर ध्यान नहीं देते, वे कर्त्तव्य-रहित और अन्यायी है। जो लोग गोवध करके स्वधर्म-निर्वाहका स्वाँग रचते हैं, उनके अज्ञानका तो ठिकाना ही नहीं। गो-सदृश उपकारी प्राणीका वध करना कभी भी न्यायसंगत अथवा धर्म-संगत नहीं कहा जा सकता है।

गो-माहात्म्यका वर्णन हमारे धर्मशास्त्रोंमें प्रचुर मात्रामें विद्यमान है। गायें पवित्र, मंगलकारक होती हैं, इनमें समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं। गायें यज्ञका विस्तार करती हैं। वे समस्त पापोंका विनाश करती हैं। 'विष्णुस्मृति'का वचन है—

गावः पवित्रं मांगल्यं गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
गावो वितन्वते यज्ञं गावः सर्वाघसूदनाः॥

गो-मूत्र, गोमय, गो-घृत, दूध-दधि और गोरोचन— ये गायके छः पदार्थ सर्वदा मांगलिक होते हैं। गौके शृंगका जल पवित्र और सभी पापोंका नाशक होता है। गौका खुजलाना समस्त कल्मषोंका नाश करनेवाला है। गो-ग्रास-प्रदाता, स्वर्गमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है—

गोमूत्रं गोमयं सर्पिः क्षीरं दधि च रोचना।
षडंगमेतत् परमं मंगल्यं सर्वदा गवाम्॥

गायोंको नियमित ग्रास मात्र देनेसे भी स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है—

गवां ग्रासप्रदानेन स्वर्गलोके महीयते॥

(विष्णुस्मृति)

'यमस्मृति'में भी गायको सर्वपापोंका नाश करनेवाली बताया गया है। श्वेत रंगकी गायका मूत्र, श्याम रंगकी गायका गोबर, ताम्र वर्णकी गायका दूध, सफेद गायका दही और कपिला गायका घृत सर्वपापोंका नाश करनेवाला होता है—

शुक्लाया मूत्रं गृह्णीयात् कृष्णाया गोशकृत्तथा।
ताम्रायाश्च पयो ग्राह्यं श्वेताया दधि चोच्यते॥
कपिलाया घृतं ग्राह्यं महापातकनाशनम्।

(यमस्मृति ७१-७२)

गो-दानका महत्त्व स्मृतियोंमें विस्तारसे बतलाया गया है। बक-(बगुला)-की हत्या करनेसे नाक लम्बी उत्पन्न होती है, अतः उसकी शुद्धिके लिये श्वेत रंगकी गायके दानका विधान है। काकघाती पुरुष कर्णहीन होता है। अतः उसे श्यामा गौका दान करना चाहिये।

वकघाती दीर्घनसो दद्याद् गां धवलप्रभाम्।
काकघाती कर्णहीनो दद्याद् गामसितप्रभाम्॥

(शातातपस्मृति ८७)

धूर्तता करनेवाला मृगीका रोगी होता है। उसे ब्रह्म-कूर्चमयी धेनु और दक्षिणासहित गो-दान करना चाहिये—

धूर्तोऽपस्माररोगी स्यात् स तत्पापविशुद्धये।
ब्रह्मकूर्चमयीं धेनुं दद्याद् गां च सदक्षिणाम्॥

(शातातपस्मृति ९९)

परायी निन्दा करनेवाला सिरका गंजा होता है, उसे स्वर्णसहित धेनुका दान करना चाहिये। परायी हँसी उड़ानेवाला काना होता है, पाप-प्रायश्चित्तके लिये उसे मोतियोंसे युक्त गौका दान करना चाहिये—

खल्वाटः परनिन्दावान् धेनुं दद्यात् सकांचनम्।
परोपहासकृत् काणः स गां दद्यात् समौक्तिकाम्॥

(शातातपस्मृति १०१)

अभक्ष्यके भक्षण करनेपर तदुत्पन्न परम विनाशके लिये गोमूत्र, गोमय, क्षीर, दधि तथा घृतका पाँच दिनतक आहार करनेका वर्णन वसिष्ठस्मृतिमें किया गया है—

गोमूत्रं गोमयं चैव क्षीरं दधि घृतं तथा।
पंचरात्रं तदाहारः पंचगव्येन शुद्ध्यति॥

(वसिष्ठस्मृति ३७०)

'औशनसस्मृति'में सत्पात्रोंको ही गोदान करनेका निर्देश मिलता है। अविद्वान् ब्राह्मण मालपूआ, स्वर्ण, गोदान इत्यादि लेनेपर नरकगामी होता है—

अपूपं च हिरण्यं च गामश्वं पृथिवीं तिलान्।
अविद्वान् प्रतिगृह्णानो भस्मीभवति दासवत्॥

(औशनसस्मृति २२९)

स्मृतिकारोंका कथन है कि किसी दूसरेकी गाय यदि बछड़ेको दूध पिला रही हो तो न तो उसे रोके और न यह बात उसके मालिकको बतानी चाहिये—

'नाचक्षीत धयन्तीं गाम्' (याज्ञ० १। १४०)

गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत न चैनां वारयेत्।

(गौतमस्मृति)

मार्गस्थित गौको, ब्राह्मणको, राजाको और अन्धोंको निकल जानेका रास्ता स्वयं छोड़ देना चाहिये—

पन्था देयो ब्राह्मणाय गवे राज्ञे ह्यचक्षुषे।

(बौधायनस्मृति, स्नातकव्रतानि ३०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मशास्त्रोंमें गायका अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि गाय हमारे समस्त पापोंको नष्ट करनेवाली है। जिस गायसे दूध ग्रहण करके हम शक्तिशाली बनते हैं, जिस गायके बछड़े हमारे क्षेत्रोंको जोतकर प्रचुर मात्रामें हमें जीवित रहनेके लिये खाद्य-सामग्री प्रदान करते हैं, उसी मर्त्यलोकका ही नहीं, अपितु स्वर्गलोकका भी ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली गोमाताका हननकर या कराके जो लोग स्वयं धार्मिक बननेका स्वाँग रचते हैं, वे निश्चितरूपसे निन्दनीय हैं। धर्मके वास्तविक स्वरूपको उन्होंने जाना ही नहीं है। कोई भी धर्म किसी भी प्राणीके प्राण लेनेकी अनुमति नहीं देता है। अपार खेदका विषय है कि गोसंरक्षण एवं गो-सेवाभाव दिन-प्रतिदिन लुप्त होता जा रहा है। गौका अपमान होनेके कारण ही हमारा देश, जहाँ कि घी-दूधकी नदियाँ बहती थीं, आज दूधके लिये तड़प रहा है। कुछ दिनोंमें देव-पितृकार्यार्थ भी दूध मिलना कठिन हो सकता है। अतः गोपालन-रक्षण अत्यावश्यक है। कहा गया है कि जिस घरमें गाय नहीं है, जहाँ वेदध्वनि नहीं होती, जहाँ बालकोंका मधुर कोलाहल नहीं सुनायी देता, [जहाँ बलिवैश्वदेव नहीं होता] वह घर घर नहीं है, अपितु श्मशान-जैसा है—

यन्न वेदध्वनिध्वान्तं न च गोभिरलंकृतम्।
यन्न बालैः परिवृतं श्मशानमिव तद् गृहम्॥

(अत्रिस्मृति ३१०)

हम अपने घरको श्मशान न बनायें। गो-पालन करें; घी, दूधकी नदियाँ प्रवाहित करें जिससे हमारा परिवार, हमारा गाँव, हमारा प्रदेश, हमारा देश भारतवर्ष पुनः पूर्वप्रतिष्ठाको प्राप्त कर सके। गोसंरक्षण, गोपालन और गोसंवर्धन सर्वथा सर्वत्र होना चाहिये। तभी हमारा देश कल्याण प्राप्त कर सकेगा और कल्याण-राज्यकी प्रतिष्ठा ऊँची हो सकेगी।

मांसाहारसे पाप

(सन्त तिरुवल्लुवर)

- **जो दूसरेका मांस खाता है, उसके मनमें दयाका भाव कहाँसे आयेगा?**
- **जैसे खर्चीले आदमीके हाथमें धनका संचय कभी नहीं रह सकता, इसी प्रकार मांसाहारीके मनमें दयाका संचय नहीं रह सकता।**
- **जानवरोंकी हत्या करना निस्सन्देह बड़ी निष्ठुरता है और उनका मांस खाना तो निश्चित पाप है।**
- **मांस-भक्षण न करनेमें ही जीवन है। मांसाहार करोगे तो नरकका दरवाजा तुम्हारे छुटकारेके लिये कभी नहीं खुलेगा।**
- **अगर लोग खानेके लिये मांसकी इच्छा न करें तो मांस बेचनेवाला कोई भी न रहे।**
- **प्राणियोंको जो व्यथा और यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, उसका सच्चा चित्र एक बार भी मनुष्यके मनमें खिंच जाय तो वह फिर किसी दिन मांस खानेकी इच्छा न करे।**
- **जो पुरुष माया या अज्ञानके बन्धनसे मुक्त हो गये हैं, वे कभी मांस नहीं खाते।**

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०७८, शक १९४३, सन् २०२१, सूर्य दक्षिणायन, वर्षा-ऋतु, भाद्रपद-कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा दिनमें ४।१८ बजेतक	सोम	शतभिषा रात्रिमें ८।३० बजेतक	२३ अगस्त	**अशून्यशयनव्रत, सायन कन्याराशिका सूर्य** सायं ५।२३ बजे।
द्वितीया " ४।५ बजेतक	मंगल	पू०भा० " ९।५ बजेतक	२४ "	**भद्रा** रात्रिशेष ४।१४ बजेसे, **मीनराशि** दिनमें २।५६ बजेसे।
तृतीया " ४।२५ बजेतक	बुध	उ०भा० " १०।११ बजेतक	२५ "	**भद्रा** सायं ४।२५ बजेतक, **मूल** रात्रिमें १०।११ बजेसे, **संकष्टी (बहुला) श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय** रात्रिमें ८।२६ बजे।
चतुर्थी सायं ५।१६ बजेतक	गुरु	रेवती " ११।४६ बजेतक	२६ "	**मेषराशि** रात्रिमें ११।४६ बजेसे, **पंचक** समाप्त रात्रिमें ११।४६ बजे।
पंचमी " ६।३२ बजेतक	शुक्र	अश्विनी " १।४६ बजेतक	२७ "	**चन्द्रषष्ठी, चन्द्रोदय** रात्रिमें ९।३० बजे, **मूल** समाप्त रात्रिमें १।४६ बजे।
षष्ठी रात्रिमें ८।१३ बजेतक	शनि	भरणी रात्रिशेष ४।७ बजेतक	२८ "	**भद्रा** रात्रिमें ८।१३ बजेसे, **हलषष्ठी (ललहीछठ)।**
सप्तमी " १०।९ बजेतक	रवि	कृत्तिका अहोरात्र	२९ "	**भद्रा** दिनमें ९।१२ बजेतक, **वृषराशि** दिनमें १०।४६ बजेसे।
अष्टमी " १२।१३ बजेतक	सोम	कृत्तिका प्रातः ६।४१ बजेतक	३० "	**श्रीकृष्णजन्माष्टमीव्रत, गोकुलाष्टमी।**
नवमी " २।१३ बजेतक	मंगल	रोहिणी दिनमें ९।१९ बजेतक	३१ "	**उदयव्यापिनी रोहिणी मतावलम्बी वैष्णवोंका श्रीकृष्णजन्म-व्रत, पूर्व भाद्रपदका सूर्य** दिनमें १२।१४ बजे, **मिथुनराशि** रात्रिमें १०।३३ बजेसे।
दशमी रात्रिशेष ४।० बजेतक	बुध	मृगशिरा " ११।४९ बजेतक	१ सितम्बर	**भद्रा** दिनमें ३।७ बजेसे रात्रिशेष ४।० बजेतक।
एकादशी " ५।२६ बजेतक	गुरु	आर्द्रा " २।४ बजेतक	२ "	**जया एकादशीव्रत** (स्मार्त्त)।
द्वादशी अहोरात्र	शुक्र	पुनर्वसु " ३।५५ बजेतक	३ "	**कर्कराशि** दिनमें ९।२७ बजेसे, **एकादशीव्रत (वैष्णव)।**
द्वादशी प्रातः ६।२५ बजेतक	शनि	पुष्य सायं ५।२० बजेतक	४ "	**शनिप्रदोषव्रत, मूल** सायं ५।२० बजेसे।
त्रयोदशी " ६।५५ बजेतक	रवि	आश्लेषा " ६।१६ बजेतक	५ "	भद्रा प्रातः ६।५५ बजेसे रात्रिमें ६।५४ बजेतक, **सिंहराशि** सायं ६।१६ बजेसे।
चतुर्दशी " ६।५३ बजेतक	सोम	मघा रात्रिमें ६।३९ बजेतक	६ "	**कुशोत्पाटिनी अमावस्या, श्राद्धकी अमावस्या।**
अमावस्या प्रातः ६।२२ बजेतक	मंगल	पू०फा० " ६।३४ बजेतक	७ "	**भौमवती अमावस्या।**

सं० २०७८, शक १९४३, सन् २०२१, सूर्य दक्षिणायन, वर्षा-शरद्ऋतु, भाद्रपद-शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
द्वितीया रात्रिमें ३।५८ बजेतक	बुध	उ०फा० सायं ६।४ बजेतक	८ सित०	× × × ×
तृतीया " २।१२ बजेतक	गुरु	हस्त " ५।१३ बजेतक	९ "	**तुलाराशि** रात्रिशेष ४।३६ बजेसे, **हरितालिका (तीज)-व्रत।**
चतुर्थी " १२।१० बजेतक	शुक्र	चित्रा दिनमें ४।१ बजेतक	१० "	**भद्रा** दिनमें १।१२ बजेसे रात्रिमें १२।१० बजेतक, **वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रदर्शन-निषिद्ध।**
पंचमी " ९।५६ बजेतक	शनि	स्वाती " २।३५ बजेतक	११ "	**ऋषिपंचमी।**
षष्ठी " ७।३३ बजेतक	रवि	विशाखा " १।० बजेतक	१२ "	**वृश्चिकराशि** दिनमें ७।२४ बजेसे, **लोलार्कषष्ठीव्रत।**
सप्तमी सायं ५।५ बजेतक	सोम	अनुराधा " ११।१९ बजेतक	१३ "	**भद्रा** सायं ५।५ बजेसे रात्रिमें ३।५२ बजेतक, **मूल** दिनमें ११।१९ बजेसे।
अष्टमी दिनमें २।४१ बजेतक	मंगल	ज्येष्ठा " ९।४० बजेतक	१४ "	**धनुराशि** दिनमें ९।४० बजेसे, **श्रीराधाष्टमी, उत्तराफाल्गुनीका सूर्य** प्रातः ६।२४ बजे।
नवमी " १२।२३ बजेतक	बुध	मूल " ८।६ बजेतक	१५ "	**मूल** दिनमें ८।६ बजेतक।
दशमी " १०।१५ बजेतक	गुरु	पू०षा० प्रातः ६।४१ बजेतक	१६ "	**भद्रा** रात्रिमें ९।१९ बजेसे, **मकरराशि** दिनमें १२।२३ बजेसे।
एकादशी " ८।२२ बजेतक	शुक्र	श्रवण रात्रिशेष ४।४१ बजेतक	१७ "	**भद्रा** दिनमें ८।२२ बजेतक, **पद्मा एकादशीव्रत (सबका), वामनद्वादशी व्रत, कन्यासंक्रान्ति** सायं ४।३१ बजे, **शरद्ऋतु प्रारम्भ, विश्वकर्मा-जयन्ती।**
द्वादशी प्रातः ६।५० बजेतक	शनि	धनिष्ठा " ४।१३ बजेतक	१८ "	**कुम्भराशि** सायं ४।२७ बजे, **शनिप्रदोषव्रत। पंचकारम्भ** सायं ४।२७ बजे।
चतुर्दशी रात्रिशेष ५।० बजेतक	रवि	शतभिषा " ४।११ बजेतक	१९ "	**भद्रा** रात्रिशेष ५।० बजेसे, **महारविवारव्रत, अनन्तचतुर्दशीव्रत।**
पूर्णिमा " ४।४७ बजेतक	सोम	पू०भा० " ४।३८ बजेतक	२० "	**भद्रा** सायं ४।५३ बजेतक, **मीनराशि** रात्रिमें १०।३२ बजेसे, **पूर्णिमा**

सुभाषित-त्रिवेणी

गीतामें तपके तीन प्रकार

[Three Types of Tapa (Austerity) in Gita]

❁ ***शरीर-सम्बन्धी तप*** *(Austerity of Body)*—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

Worship of Gods, the Brāhmaṇas, one's gurus, elders and wise-men, purity, straightforwardness, continence and nonviolence—these are called penance of the body.

❁ ***वाणी-सम्बन्धी तप*** *(Austerity of Speech)*—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

Words which cause no annoyance to others and are truthful, agreeable and beneficial, as well as the study of the Vedas and other Śāstras and the practice of the chanting of Divine Name—this is known as penance of speech.

❁ ***मन-सम्बन्धी तप*** *(Austerity of Mind)*—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।

Cheerfulness of mind, placidity, habit of contemplation on God. Control of the mind and perfect purity of inner feelings —all this is called austerity of the mind.

[श्रीमद्भगवद्गीता १७। १४—१६]

गीतामें तपकी तीन श्रेणियाँ

[Three Class of Tapa (Austerity) in Gita]

❁ ***सात्त्विक-तप*** *(Sāttvika Austerity)*—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।

This threefold penance performed with supreme faith by Yogīs expecting no return is called Sāttvika.

❁ ***राजस-तप*** *(Rājasika Austerity)*—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये भी स्वभावसे या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है।

The austerity which is performed for the sake of renown, honour or adoration, as well as for any other selfish gain, either in all sincerity of by way of ostentaion, and yields an uncertain and momentary fruit, has been spoken of here as Rājasika.

❁ ***तामस-तप*** *(Tāmasika Austerity)*—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है—वह तप तामस कहा गया है।

Penance which is resorted to out of foolish notion and is accompanied by self-mortification, or is intended to harm others, such penance has been declared as Tāmasika.

[श्रीमद्भगवद्गीता १७। १७—१९]

साधनोपयोगी पत्र

(१)

प्रेम और विकार

प्रिय महोदय! आप लिखते हैं कि 'मैं प्रेम-धनसे शून्य हूँ। बिना प्रेमके जीवन कैसा, वह तो बोझरूप है।' यह आपका लिखना सिद्धान्ततः ठीक ही है। प्रेमशून्य जीवन शून्य ही है। परंतु वास्तवमें यह बात है नहीं। प्रेम सभीके हृदयमें है, भगवान्ने जीवको प्रेम देकर ही जगत्में भेजा है। हमने उस प्रेमको नाना प्रकारसे इन्द्रियचरितार्थतामें लगाकर विकृत कर डाला है, इसीलिये उसके दर्शन नहीं होते और कहीं होते हैं तो बहुत ही विकृतरूपमें होते हैं। विकृत स्वरूपका नाश होते ही मोहका पर्दा फट जाता है; फिर प्रेमका असली ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकट होता है, जिसके प्राकट्यमात्रसे ही आनन्दाम्बुधि उमड़ पड़ता है। प्रेम और आनन्दका नित्ययोग अनिवार्य है। भगवान्के आनन्दसे ही सृष्टि हुई और इस प्रेमसे ही आनन्दका विकास और पोषण होता है। प्रेमकी कोई भी दशा ऐसी नहीं है, जहाँ आनन्दका अभाव हो और आनन्द भी कोई ऐसा नहीं, जिसमें कारणरूपसे प्रेम वर्तमान न हो। परंतु जहाँ प्रेमके नामपर कामकी क्रीड़ा होने लगती है, वहाँ प्रेम अपनेको छिपा लेता है। चिरकालसे मलिन मायाके मोहवश हम कामकी क्रीडामें लगे हैं। कामको ही प्रेम समझ बैठे हैं। इसीलिये प्रेम हमसे छिप गया है और इसीलिये प्रेमके अभावमें हम आनन्दरहित केवल '**चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः**' और '**कामोपभोगपरमाः**' होकर शोक-विग्रह बन गये हैं। इस कामकी कालिमाको धोनेके लिये आवश्यकता है किसी ऐसे क्षारकी, जो इसकी जड़ताका नाश कर दे और वह क्षार वैराग्य है। बार-बार उस परम प्रेमार्णव—अनन्त प्रेमार्णव सुधा-सार श्यामसुन्दरका स्मरण करना और उसकी दिव्य पद-नख-ज्योतिके प्रकाशसे समस्त संचित मोहान्धकारका नाश करनेके निश्चयसे प्रत्येक क्षणके प्रत्येक चिन्तनमें अपार अलौकिक आनन्दका अनुभव करना (अनुभव न हो तो भावना करना) कर्तव्य है। उसके इस मधुर चिन्तनके प्रभावसे जगत्के समस्त रस नीरस, कटु और त्याज्य हो जायँगे। तब उस रसविग्रहकी रश्मियाँ हमारे ऊपर पड़ेंगी और हमारे सुप्त प्रेमको जगाकर हमें उसके दिव्य दर्शन करायेंगी। शेष प्रभुकृपा।

(२)

कर्मोंका भगवान्में अर्पण

आपका पत्र मिला। उपदेश देनेका तो मैं अधिकारी नहीं हूँ। सलाहके तौरपर यही कह सकता हूँ कि आलस्य, असंयम और अविश्वासका त्याग करके श्रीभगवान्का नाम-जप करना चाहिये तथा नाम-जप करते हुए भगवत्सेवाके भावसे कर्तव्यकर्म करनेकी आदत डालनी चाहिये। कर्मसे भागना नहीं चाहिये। कर्म बन्धन करनेवाला नहीं है, बन्धन करनेवाला नीचा भाव है। भगवान्के कथनानुसार, यदि यज्ञार्थ कर्म हो तो उससे बन्धन नहीं होता। भगवान्ने कहा है—'जो कुछ भी कर्म करो, सब मेरे अर्पण करो। इस प्रकार करनेसे तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे और अन्तमें मुझको ही प्राप्त होओगे। (गीता ९। २७-२८)' भगवान्ने कर्मका निषेध नहीं किया; कर्म करनेकी तो आज्ञा दी, परंतु सब कर्मोंका अर्पण अपनेमें (भगवान्में) करनेको कहा। कर्म किये बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता। जो कर्मसे भागता है, उसे भी कर्म करना पड़ता है। और जबतक कर्ममें आसक्ति है, तबतक उसके कारण बन्धनका भय है। बड़े-बड़े प्रलोभनोंको लात मारकर आये हुए विद्वज्जन भी छोटे-छोटे प्रलोभनोंमें फँसकर गिरते देखे-सुने जाते हैं। असली चीज तो है भाव और उस भावसे होनेवाला भजन। भाव न भी हो तो भजन करना चाहिये। कलियुगमें तो नाम-भजन ही मुख्य है।....

स्नेह और कृपा तो भगवान्की सबपर है, सदा ही है और अनन्त है। शरणमें रखनेकी सामर्थ्य भी उनमें ही है। उन्हींके शरण होना चाहिये। शेष प्रभुकृपा।

कृपानुभूति

गीता-माताकी कृपासे आत्मानुभव

आज जब विश्वपर कोरोनाका संकट छाया हुआ है तब मुझे लगता है कि अपने जीवनका एक अनुभव बताना जरूरी है। मेरे इस अनुभवके द्वारा यदि एक भी व्यक्तिको 'आत्मिक शान्ति' मिलती है तो मैं अपनेको धन्य समझूँगा। भगवान् कृष्णने भी अर्जुनको 'गीताका उपदेश' युद्धके समय ही दिया था। गीता 'आत्माका विज्ञान' है। आत्माका ज्ञान होनेसे परम शान्ति मिलती है। कोविड-१९ चीनके वुहान शहरमें २०१९ को प्रकट हुआ था। उसके उपरान्त सर्वत्र आशंका और भय हो गया। इसके ठीक पचास साल पूर्व यानी अक्टूबर या नवम्बर १९६९में व्यक्तिगत रूपसे आशंका एवं भयकी अवस्थामें गीता पढ़ते हुए मुझे हठात् जो अनुभव हुआ, उसे मैं यहाँ बता रहा हूँ। मैं आत्मप्रचारसे दूर ही रहता हूँ, लेकिन आज इस रहस्यको खोलना बहुत जरूरी हो गया है, ताकि सबको निश्चय हो जाय कि आत्मा ही 'सत्य' है।

उन दिनों हमारा पूरा परिवार बिहारमें रहता था। कलकत्तेमें हमारी गद्दी (ऑफिस) और एक फ्लैट था। मैं कुछ दिनोंके लिये अपने बड़े भाईके साथ कलकत्तेके फ्लैटमें आ गया था। मेरे भाईके कारोबारमें एक बिहारी राजपूत पार्टनर था। कलकत्तेमें हिसाब-किताबमें उसने कुछ गड़बड़ी कर ली। मालूम पड़ जानेपर झगड़ा होना स्वाभाविक था। बादमें तो वह अपना हिस्सा लेकर अलग भी हो गया। लेकिन उस वक्त उसने मेरे भाईको धमकी दे दी कि तुम्हारे हाथ-पैर तोड़ दूँगा। भाई तो डरनेवाले नहीं थे, लेकिन मैं डर गया। भाईको कारोबारके सिलसिलेमें तीन-चार दिनके लिये कहीं बाहर जाना था। लेकिन समस्या खड़ी हो गयी कि मुझ डरे हुएको अकेला छोड़कर कैसे जायँ? एक नौकर था, वह भी अपने गाँव गया हुआ था। हम वैष्णव अग्रवाल-परिवारके हैं। परिवारका माहौल और संस्कार हमेशासे धार्मिक रहे हैं। लेकिन स्नातक (B.Sc.) तक विज्ञानकी पढ़ाई करके मैं जरा नास्तिक-सा हो गया था। मेरी बुद्धिको सही मार्गपर लाना था, इसलिये भगवान्ने यह विधान रच दिया।

घरमें टेबुलपर गीताकी पुस्तक रखी हुई थी। भाईने वह उठायी। दूसरे अध्यायके बासठवें श्लोकपर उनकी नजर पड़ी। उन्होंने उसपर अँगुली रखकर मुझे दिखाया और कहा कि इसको पढ़ो और स्वयं टैक्सी लेकर स्टेशन चले गये। मैं फ्लैटमें अकेला रह गया। मैं उसी लाईनको पकड़कर गीता पढ़ने लगा। मुझको लगा 'अरे, यह तो मेरी ही अन्तरात्माकी आवाज है। इसको जरूर सुनना चाहिये।' और तत्काल गीताजीमें मेरी गहरी रुचि और श्रद्धाका भाव जाग्रत् हो गया और भगवान् कृष्णमें परम आस्था उत्पन्न हो गयी। मैं पूरे मनोयोगसे एक-एक लाईन पढ़ने लगा। जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ने लगा, मुझे लगा कि मैं गीतामें उतर रहा हूँ। एक-एक शब्द मेरी समझमें आने लगा। मेरे शरीरमें बार-बार रोमांच होने लगा और आँसुओंकी धारा बह निकली। श्वास-प्रश्वास भी एकदम हलके हो गये। छठे अध्यायके तेरहवें श्लोकतक पहुँचते-पहुँचते मुझे लगा कि 'अरे यह तो कृष्ण स्वयं मुझसे बोल रहे हैं। मुझसे ही बात कर रहे हैं।' और मुझे स्पष्ट महसूस हुआ कि बहुत दूरसे कोई मुझे निर्देश दे रहा है कि सीधे बैठ जाओ, आँखें मूँद लो। जैसे ही मैंने आँखें मूँदीं, मेरा 'मैं' बिल्कुल बदल गया। मैंने पाया कि मैं पहलेवाला 'मैं' नहीं हूँ। मैं बहुत बड़ा हो गया हूँ। मैं कमरेकी छततक ऊँचा हो गया हूँ। मैं एक दिव्य शरीर हूँ और मेरा पार्थिव शरीर मेरी अपनी ही गोदमें बैठा हुआ है—बिल्कुल शान्त, निस्पंद और निश्चेष्ट। मेरा वह बृहद् शरीर किसी पदार्थका नहीं था। शुद्ध चेतनामय और शुद्ध आनन्दमय था। इसलिये मैं पूर्ण निर्भय और पूर्ण शोकरहित हो गया; क्योंकि भय, शोक आदि पार्थिव शरीरको होते हैं, 'चिन्मय' शरीरको नहीं होते। 'चिन्मय आत्मा (Anti meterial body)-की स्मृति जाग्रत् होते ही सांसारिक तत्त्व (Material world) मेरे लिये वैसे ही खो गया, जैसे प्रकाश होते ही अन्धेरा खो जाता है। मेरा 'जैविक भाव' ही मिट गया। मैं 'भावातीत अवस्था' में पहुँच गया था। यह स्थिति कितनी देर तक रही, मैं निश्चित रूपसे

नहीं कह सकता; क्योंकि गोदमें बैठे पार्थिव शरीरमें कोई भी हलचल, गतिविधि, श्वास-प्रक्रिया या हृदयकी धड़कन आदि कुछ भी नहीं थी। शायद समयकी गति भी रुक गयी थी। लेकिन जब मेरी आँख खुली तो मेरा सारा शरीर एकदम हलका और मन पूरी तरहसे शान्त था। मैं अपने संसारमें लौट आया था। मेरे चेहरेकी मांसपेशियाँ इतनी ढीली हो गयी थीं कि तीन-चार दिन बाद जब भाई वापस आये तो सबसे पहला प्रश्न यही किया कि अरे ओम! तुम्हारा चेहरा ऐसा कैसे हो गया है? मैंने कोई जवाब नहीं दिया; क्योंकि मैं समझ गया था कि वे अनजानेमें ही मेरे गुरु बन गये थे। लेकिन इसका अंजाम इतना गहरा होगा, न वे जानते थे, न मैं ही जानता था। यही सोचकर मैं चुप रहा। कुछ दिनोंमें मेरा चेहरा पहलेसे भी ज्यादा निखर गया।

इस अनुभवको हुए पचास साल बीत गये। ऐसा दिव्य अनुभव फिर दुबारा कभी नहीं हुआ। लेकिन इस अनुभवको मैं कभी नहीं भूल सकता। क्योंकि इसीके द्वारा मैं अपने-आपको और भगवान् कृष्णकी अलौकिक सत्ताको जान पाया हूँ। मेरी समझसे इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि आत्माका अनुभव शरीरको नहीं होता; क्योंकि शरीर तो जड़ पदार्थोंसे बना हुआ है, जबकि आत्मा चेतन है। जड़को चेतनका अनुभव कैसे होगा। जैसे मेरे शरीरको आत्माका अनुभव नहीं हुआ, बल्कि आत्माको शरीरका अनुभव हुआ। शरीरमें आत्माका ही तेज (चेतनता) है, जिससे हम जीव बने हुए हैं। आत्मा शरीरको त्याग देती है तो हम निर्जीव हो जाते है, इसलिये शरीर तो आत्माको निरन्तर दीखता रहता है, लेकिन इतने विराट् स्वरूपवाला आत्मा हमारे शरीरको कभी नहीं दीखता, अतः आत्मा तो हमारे बारेमें सब कुछ जानता है, लेकिन आत्माके बारेमें हम कुछ भी नहीं जानते।

इस अनुभवके पचास वर्ष बीतनेके बाद मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि हमारे पास प्रकृतिका अनमोल उपहार सर्वसाधनसम्पन्न यह शरीर ही नहीं है, बल्कि इसके पीछे एक अपार शक्तिशाली आत्मा भी है, और उसके पीछे परम शक्तिशाली और सब-कुछ जाननेवाला परमात्मा भी है, जिसके हाथमें इस पूरे संसारकी नकेल है। जो इसको जिधर मर्जी हो, हमारे कर्मोंके अनुसार उधर ही ले जाता है। इसलिये आत्माका दर्शन हमारी इच्छासे नहीं होता, ईश्वरकी कृपासे ही होता है। शरीर रहते हुए ही आत्माका बोध हो जाय तो आत्माका रहस्य खुल जाता है और परम शान्ति मिलती है। **'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'।**

शरीर जानेके बाद तो आत्माका अनुभव सबको हो जाता है, लेकिन कोई बता नहीं पाता है कि मैं आत्माके रूपमें हूँ। इसलिये शान्ति नहीं मिलती। पुनर्जन्म हो जाता है। आत्माका दर्शन हो जानेका भी मतलब यह नहीं है कि संसारसे हमें छुटकारा मिल गया। अपने किये हुए कर्मोंका फल तो हमें भोगना ही होगा। बीचमें ही किसी भी कारणसे यदि मृत्यु हो जाती है तो अपने बचे हुए और नये संचित कर्मोंके अनुसार आत्मा दूसरा शरीर धारण करके पुनः संसारमें आ जायेगी। गीता कहती है कि 'सकाम' कर्म करोगे तो संसारके सुख और दुःख दोनों भोगने होंगे। 'निष्काम' कर्म करोगे तो सुख भी नहीं होगा, दुःख भी नहीं होगा। समत्व भाव आ जायगा। इस तरह नये कर्म तो होंगे नहीं। अतः पुराने कर्मोंका फल भोगनेके बाद छुट्टी मिल जायगी। फिर मृत्यु नहीं होगी, संसार छूटेगा और आत्मा परमात्मामें मिल जायेगी।

जबतक शरीरमें आत्मा है तबतक शरीर चैतन्य है। आत्मा निकल जायगी तो शरीर जड़ हो जायगा। इसलिये ***'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हिं करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥'*** आत्मा चैतन्य है, लेकिन परमात्मा तो परम चैतन्य है। वह हमारा एक-एक भाव जानता है और उसीके अनुसार हमारे कर्मोंका फल हमें देता है।

कबिरा गरब न कीजिये काल गहे कर केस।
ना जाने कित मारिहै क्या घर क्या परदेस॥

मेरा मानना है कि आत्माका दर्शन तो सबको नहीं हो सकता, लेकिन ईश्वरकी दिव्यचेतना तो हम-सबमें है, वह हम-सबके पथको सदा आलोकित करती रहे, जीवनमें भी और जीवनके बाद भी। बस इसी मंगल कामनाके साथ। **'श्रीकृष्णः शरणं मम'।**

—ओमप्रकाश पोद्दार

पढ़ो, समझो और करो

(१)

उदार डॉक्टर-दम्पती

पूनाके टी०बी सेनेटोरियमके सुपरिन्टेन्डेन्ट डॉ० कौस्तुभने अपनी एक रसियन नर्स (सुचेता)-के गुणोंसे आकर्षित होकर उसके साथ विवाह कर लिया। विवाह करनेके पश्चात् उन्होंने नौकरीसे त्याग-पत्र दे दिया। वे मैसूरके सिविल-हॉस्पिटलमें रोगियोंकी बिना किसी प्रलोभनके (एकदम नि:शुल्क) नि:स्वार्थ सेवा करने लगे।

एक दिन उन्होंने देखा कि पाँच वर्षका एक बालक उनकी झोपड़ीके पास पड़ा-पड़ा कराह रहा है। बहुत पूछनेपर उसने इतना ही बताया कि 'मुझे टी०बी० हुई है, मेरा निर्धन पिता मुझे मरनेके लिये यहाँ फेंक गया है!'

संतानहीन डॉक्टर-दम्पतीको इस प्रकार अप्रत्याशित रूपसे बालक मिल जानेसे बड़ी प्रसन्नता हुई। लगनशील दम्पतीकी योग्य देखभाल तथा अथक सेवासे वह बालक थोड़े ही दिनोंमें पूर्णरूपेण रोगमुक्त हो गया। इसके पश्चात् एक दिन डॉक्टर कौस्तुभके पास एक पागल-जैसी स्त्री आकर खड़ी हो गयी। वह कभी हँसती और कभी थोड़ी ही देरमें रोने लगती। कभी वह ऊँची आवाजमें बोलने लगती—'मेरा लाल कहाँ गया?' जब उसने उस बालकको देखा तो अत्यधिक हर्षके आवेगसे उसकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये। उसने रोते हुए ही दौड़कर बालकको अपनी छातीसे लगा लिया। 'मिल गया, मिल गया, मेरा लाल। यही तो है मेरा बेटा।' हर्षावेशसे उन्मत्त हो वह चिल्लाने लगी।

डॉ० कौस्तुभने बहुत ही सावधानीसे उस स्त्रीकी सार-सँभाल की। दो महीनेके उपचार और देखभालसे ही वह पूरी तरह ठीक हो गयी। उसका मानसिक संतुलन बिल्कुल सामान्य हो जानेके बाद जब वह वहाँसे विदा होने लगी तो उसने डॉक्टर-दम्पतीके पैर पकड़ लिये और उनसे अनुनयके स्वरमें कहा—'आप आज्ञा दें तो मैं अपने बेटेको अपने साथ लेती जाऊँ?'

'लेती जाओ बहन! हम अपने सुखके लिये तुम्हें दु:खी करना नहीं चाहते। इसके वियोगने ही तुम्हें पागल बना दिया था। संयोगसे अब यह हमारा भी पुत्र हो गया था। अब यदि तुम इसे हमसे दूर (अपने साथ) ले जाओगी तो हमें इसके वियोगसे कोई विशेष दु:ख न होगा। कारण हमें तो कोई अन्य बालक भी पुत्ररूपमें मिल जायगा, परंतु यदि हमने तुम्हारा यह पुत्र (अपने पास रखकर) तुमसे अलग कर दिया तो फिर तुम अपना पुत्र कहाँ पाओगी? क्योंकि दूसरोंको अपना बनानेकी कला अभी तुमने नहीं सीखी है।' डॉक्टर-दम्पतीने अपने अन्तर्भावोंको छिपाते हुए भर्राये स्वरमें इतना ही कहकर उस बालकको उसी क्षण उस दु:खी महिलाको सौंप दिया। अब डॉक्टर-दम्पतीकी आँखें आनन्द और पीड़ा (दोनों)-के मिश्रित भावोंके कारण चमकपूर्ण एवं सजल थीं। यह है उदारता एवं त्यागका भाव। किंतु निर्धनता भी कितनी क्रूर है!—**बी०जे० कापड़ी**

(२)

सच्ची भक्ति

तमिल स्त्री-सन्त अव्वय्यारकी छोटी अवस्थामें ही उसके माता-पिताका निधन हो चुका था। एक दयालु कविने उसका पालन-पोषण किया। जब उसकी आयु सोलह वर्षकी हुई तो योग्य वरकी खोज की जाने लगी। देखनेमें वह सुन्दर थी ही, एक राजकुमारने उसे पसन्द कर लिया, किंतु अव्वय्यारका तो ध्यान बचपनसे ही भगवद्भजनमें था। उसने अपने अभिभावकोंसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा—मैंने तो अपना जीवन भगवद्भजन, काव्यरचना और जनसेवामें बितानेका निश्चय किया है, आप मेरे विवाहका विचार त्याग दें, किंतु उन्होंने सोचा कि विवाहके बाद यह राजमहलके वैभवमें सब कुछ भूल जायगी, इसलिये उन्होंने उसकी बात अनसुनी कर दी।

जब अव्वय्यारने देखा कि उसके शब्दोंका कोई

असर नहीं हुआ है, तो उसने विचार किया कि जिस यौवन और रूपसम्पदाके कारण उसे वैवाहिक बन्धनमें जकड़ा जा रहा है, यदि वह रहे ही न तो अपनी इच्छा पूरी हो सकती है। वह भगवान्‌की शरणमें गयी और कातर स्वरमें प्रार्थना करने लगी—भगवन्! मेरा यौवन और सौन्दर्य भजन-पूजन, सरस्वतीकी उपासना और ज्ञान-दानमें बाधक बन रहा है, इसलिये हे प्रभो! मेरे इस तनको कुरूप कर दो, ताकि मैं बेहिचक सबकी सेवा कर सकूँ।

दीनदयालु परमेश्वरने उसकी आर्त पुकार सुन ली और एक दिन-रात्रिमें ही अव्वय्यारके शरीरका सारा तेज जाता रहा। वह एक अधेड़की भाँति कुरूप दिखायी देने लगी। लोगोंने जब देखा तो हैरान हो गये, मगर बादमें उन्हें सही स्थिति मालूम हो गयी और वे उसके त्यागकी प्रशंसा करने लगे। अब अव्वय्यारने निवृत्तिमार्गका आश्रय लिया तथा जीवन भगवद्भजन और धार्मिक ग्रन्थरचनामें व्यतीत किया। उनके एक ग्रन्थ 'नीति नेरि विलख्वम' में आता है—शरीर यानी पानीका बुलबुला और धन-सम्पत्ति यानी समुद्रकी उत्तुंग लहरें। पानीसे लिखी रेखाएँ जितने समयतक टिकती हैं, शरीर और धन भी उतने ही कालतक रहता है। इसलिये मनुष्यको स्वयंको भगवद्भजनमें लीन करना चाहिये।

—श्रीमती ऊषा अग्रवाल

(३)

कृतज्ञताकी सुवास

थोड़े दिन पूर्व मेरे एक मित्रने अपने जीवनकी एक अविस्मरणीय घटना सुनायी, उसे अपने शब्दोंमें मैं यहाँ दे रहा हूँ—

एक अफसरकी हैसियतसे जब वे स्टेशनपर उतरे तो ऑफिसके ८-१० कर्मचारियोंने उनका भावपूर्ण स्वागत किया—पुष्पहारोंका ढेर लग गया था। ऑफिसमें भी हर समय, उनको कोई तकलीफ न हो, इसका खयाल सब कोई रखते थे। पूरा ऑफिस-स्टॉफ उनपर इस प्रकार मँडराया करता था, जिस प्रकार मिठाईपर मक्खियाँ।

तीन वर्षके बाद जब मेरे मित्रका स्थानान्तरण हुआ, तब उन्होंने अपने ऑफिस-कर्मचारियोंको सामान लदवाने आदिमें मदद करनेके लिये घरपर बुलाया, किंतु उनमेंसे एक भी कर्मचारी मदद करनेके लिये नहीं आया। विदाईके समय रेलवे-स्टेशनपर भी कोई उपस्थित नहीं हुआ।

गाड़ी रवाना होनेसे पाँच-सात मिनट पूर्व एक व्यक्तिको पुष्पमाला लेकर आता हुआ देखकर वे नीचे खड़े रह गये। उसने पुष्पमाला पहनाते हुए कहा—'साहब, क्षमा कीजिये, मुझे ऑफिस छोड़नेमें आज देर हो गयी।' आनेवाला एक चपरासी था।

'ऑफिसके और कर्मचारी……?'

'वे नहीं आयेंगे, साहब!'—चपरासी बोला—'वे तो नये आनेवाले साहबके स्वागतकी तैयारीमें लगे हैं।'

'तो फिर तू क्यों आया?' मित्रने प्रश्न किया। 'मेरे पास आज न सत्ता है, न कुर्सी! अब मैं तेरा साहब भी तो नहीं हूँ?'

'आप यह क्या कह रहे हैं, साहब!'—चपरासीके शब्दोंमें मौन वेदना थी। वह पुनः बोला—'एक अच्छे अफसरकी हैसियतसे आपका स्थान मेरे हृदयमें विद्यमान है और रहेगा। आपने अपने साधु-स्वभावसे हम सभीको क्या नहीं दिया था। मैं आपके स्नेह एवं उपकारोंको भूल नहीं सकता, दूसरे चाहे भूल जायँ।'

अपनी बात पूरी करते हुए मेरे मित्रने कहा—'चपरासी भाईकी दी हुई पुष्पमालाकी सुगन्धसे मेरा हृदय सुवासित हो गया।'

सचमुच, कृतज्ञताकी सुवास ऐसी ही प्रभावोत्पादिनी होती है।—**चन्द्रकान्त द्विवेदी**

(४)

माताका अद्भुत वात्सल्य

हमारी माताजी अत्यधिक बीमार थीं। वैसे उनका शरीर देखनेमें सब प्रकारसे अच्छा दीखता था, परंतु अंगोंकी क्रिया-शक्ति ही समाप्त हो गयी थी। उनको करवट भी जब कोई दिलाता, तभी ले पातीं। मुँहमें ग्रास दे दो, तभी खा पातीं—ऐसी स्थिति थी। मेरे पिता

सामान्य चपरासी। बहन सब ससुरालमें थी। भाई एक था, वह छोटा था। माताजीकी सार-सँभालका काम मुझे करना पड़ता। इतना ही नहीं, रसोई भी बनानी पड़ती। नौकर रखने लायक आर्थिक स्थिति नहीं थी। घरका दोनों समयका यह काम करना और फिर पढ़ने भी जाना। सगे-सम्बन्धियों तथा पड़ोसियोंको मुझसे सहानुभूति तो बहुत थी, परंतु वे भी बेचारे क्या करें? बर्तन और कपड़े साफ करनेको एक कामवाली मिल गयी थी, उसे थोड़ा-बहुत समय मिलता तो माताजीकी सेवा करती; नहीं तो अधिकांशमें तो कामका बोझा मेरे ही सिरपर पड़ता। रसोईमें रोटी-साग, खिचड़ी-कढ़ी बनानेका निश्चय किया था। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें मुझे यह सब करते देखकर सबको मेरे ऊपर दया आती। हमारे घरसे दो घर छोड़कर तीसरे घरमें एक एकाकी वृद्धा रहती थीं। दोनों पैरोंमें चोट लग जानेसे वे लकड़ीके पैरोंका सहारा लेकर चलतीं। अकेली रहकर अपनी गुजर-बसर करतीं। अपना काम स्वयं कर लेतीं। हम सब उन्हें 'माँ' कहते। एक बार उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—बेटा! तेरा दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। मैं तेरे घर आकर रसोई बना दिया करूँगी। मेरे पास समय है। अपने पिताजीसे कहना कि 'इतना काम माँ करेगी और प्रसन्नतापूर्वक करेगी।'

मैंने पिताजीसे कहा। पिताजी क्या बोलते। माँने रसोई बनाने आना प्रारम्भ किया। लकड़ीके पैरोंके सहारे आयें और जायँ। हमारे यहाँसे रसोई बनाकर अपने घर जाकर अपनी रसोई बनावें। पिताजीने आग्रह किया कि हमारे यहाँ ही अपनी रसोई बनाकर हमारे साथ ही यहीं भोजन करें। परंतु माँ मानें ही नहीं। मुझे भी अच्छा नहीं लगता था। एक दिन मैंने कहा—'माँ! मेरे बहुत पुण्योंके फलस्वरूप तुम मिली हो, तुम यहीं भोजन करो; नहीं तो मैं भी भोजन नहीं पाऊँगा और रसोई भी मैं ही बनाया करूँगा।' माँ यह सुनकर गद्‌गद हो गयीं और बोलीं—'बेटा! मैं अपने घर बैठी-बैठी कुछ काम तो करती नहीं हूँ, तेरी रसोई बनानेमें मेरा क्या बिगड़ जाता है। तुझे देखकर जो प्रसन्नता होती है, वही मेरे कामका प्रत्युपकार है। मैं अपने घरमें खाने-लायक स्थितिमें हूँ, मेरे दूसरा और कौन है ही?' उनकी आँखोंमें आँसू छलक आये! मैंने कहा—'तुम मेरी माँ और मैं तुम्हारा बेटा' माँ और बेटा अलग-अलग क्यों खायँ!

मेरे पिताजीके बहुत आग्रह करनेसे जो काम नहीं हुआ, वह मेरे शब्दोंने किया। वात्सल्यकी आनन्दाश्रुधारा नेत्रोंमें भरकर माँ बोलीं—'अच्छा बेटा! मैं रसोई बनाऊँगी और तेरे साथ यहीं खाऊँगी।'

माँ हमारे किसी भी सम्बन्धमें नहीं पड़ती थीं। मात्र पड़ोसमें रहती थीं। मेरी उपस्थिति देखकर उनके अन्तरका मातृ-वात्सल्य प्रकट हुआ।—**अमृतलाल याज्ञिक**

(५)

धनका बँटवारा

कबीरदासजीके गुरुमुख-चेले धरमदासजी शहरके जाने-माने रईस थे। परोपकारी थे। धनका उचित उपयोग करते थे। इसीसे लोग उन्हें धनी धरमदास कहते थे। उन्हें इस तरह धन लुटाते देख कुछ लोगोंके पेटमें दर्द होने लगता, कुछ ऐसे भी लोग होते हैं कि जो स्वयं तो किसीके काम आते नहीं, लेकिन औरोंको खर्च करते देख उनका दिल दूखने लगता है। इसी श्रेणीके एक व्यक्तिने धरमदासजीसे कहा—आप तो इस तरह धन लुटाते हैं, मानो वह कंकर-पत्थर हो, कुछ कुटुम्बियों और अपने भविष्यका भी तो विचार करना चाहिये।

धरमदासजी बोले—भाई! स्व-अर्जित सम्पत्ति मेरी कन्या-जैसी है, उसका उपभोग मैं कैसे कर सकता हूँ। बापकी कमाई सम्पत्ति मेरी बहन-जैसी है, उसका भी उपभोग मेरे लिये वर्जित है और परायी सम्पत्ति पर-स्त्री-जैसी हुई, इसके उपभोगका भी प्रश्न नहीं उठता, इसलिये मैंने अपनी कन्या और बहनकी शादी करके दूसरेको दे दी, अब धनकी चौकीदारी करनेकी चिन्ता नहीं रही। अब मैं निश्चिन्त होकर भगवद्भजन कर सकता हूँ।—**विनायक नानेकर**

मनन करने योग्य

ईमानदार व्यापारी

महातपस्वी ब्राह्मण जाजलिने दीर्घकालतक श्रद्धा एवं नियमपूर्वक वानप्रस्थाश्रम-धर्मका पालन किया था। अब वे केवल वायु पी-पीकर निश्चल खड़े हो गये थे और कठोर तपस्या कर रहे थे। उन्हें गतिहीन देखकर पक्षियोंने उन्हें कोई वृक्ष समझ लिया और उनकी जटाओंमें घोंसले बनाकर वहीं अण्डे दे दिये। वे दयालु महर्षि चुपचाप खड़े रहे। पक्षियोंके अण्डे बढ़े और फूटे, उनसे बच्चे निकले। वे बच्चे भी बड़े हुए, उड़ने लगे। जब पक्षियोंके बच्चे उड़नेमें पूरे समर्थ हो गये और एक बार उड़कर पूरे एक महीनेतक अपने घोंसलेमें नहीं लौटे, तब जाजलि हिले। वे स्वयं अपनी तपस्यापर आश्चर्य करने लगे और अपनेको सिद्ध समझने लगे। उसी समय आकाशवाणी हुई—'जाजलि! तुम गर्व मत करो। काशीमें रहनेवाले तुलाधार वैश्यके समान तुम धार्मिक नहीं हो।'

आकाशवाणी सुनकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसी समय काशीको चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि तुलाधार एक साधारण दूकानदार है और अपनी दूकानपर बैठकर ग्राहकोंको तौल-तौलकर सौदा दे रहा है। परंतु जाजलिको उस समय और भी आश्चर्य हुआ, जब तुलाधारने बिना कुछ पूछे उन्हें उठकर प्रणाम किया, उनकी तपस्याका वर्णन करके उनके गर्व तथा आकाशवाणीकी बात भी बता दी। जाजलिने पूछा—'तुम तो एक सामान्य बनिये हो, तुम्हें इस प्रकारका ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ?'

तुलाधारने नम्रतापूर्वक कहा—'ब्रह्मन्! मैं अपने वर्णोचित धर्मका सावधानीसे पालन करता हूँ। मैं न मद्य बेचता हूँ, न और कोई निन्दित पदार्थ बेचता हूँ। अपने ग्राहकोंको मैं कभी तौलमें कम नहीं देता। ग्राहक बूढ़ा हो या बच्चा, भाव जानता हो या न जानता हो, मैं उसे उचित भावमें उचित वस्तु ही देता हूँ। किसी पदार्थमें दूसरा कोई दूषित पदार्थ नहीं मिलाता। ग्राहककी कठिनाईका लाभ उठाकर मैं अनुचित लाभ भी उससे नहीं लेता हूँ। ग्राहककी सेवा करना मेरा कर्तव्य है, यह बात मैं सदा स्मरण रखता हूँ। ग्राहकोंके लाभ और उनके हितका व्यवहार ही मैं करता हूँ, यही मेरा धर्म है। वाणिज्यका यह सिद्धान्त अपने-आपमें धर्म और धर्मनिष्ठ किसी भी गर्वीले तपस्वीसे श्रेष्ठ है। तुलाधार धर्मके उन तत्त्वोंको आत्मसात् कर चुके थे, जो साधकोंके लिये अत्यन्त उपादेय ही नहीं, अनिवार्य रूपसे पालनीय भी होते हैं। अस्तु।

तुलाधारने आगे बताया—'मैं राग-द्वेष और लोभसे दूर रहता हूँ। यथाशक्ति दान करता हूँ और अतिथियोंकी सेवा करता हूँ। हिंसारहित कर्म ही मुझे प्रिय हैं। कामनाका त्याग करके सब प्राणियोंको समान दृष्टिसे देखता हूँ और सबके हितकी चेष्टा करता हूँ।'

जाजलिके पूछनेपर महात्मा तुलाधारने उनको विस्तारसे धर्मका उपदेश किया। उन्हें समझाया कि हिंसायुक्त यज्ञ परिणाममें अनर्थकारी ही हैं। वैसे भी ऐसे यज्ञोंमें बहुत अधिक भूलोंके होनेकी सम्भावना रहती है और थोड़ी-सी भी भूल विपरीत परिणाम देती है। प्राणियोंको कष्ट देनेवाला मनुष्य कभी सुख तथा परलोकमें मंगल नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा ही उत्तम धर्म है—'**अहिंसा परमो धर्मः।**'

अब जो पक्षी जाजलिकी जटाओंमें उत्पन्न हुए थे, वे बुलानेपर जाजलिके पास आ गये। उन्होंने भी तुलाधारके द्वारा बताये धर्मका अनुमोदन किया। तुलाधारके उपदेशसे जाजलिका गर्व नष्ट हो गया। इस कथनसे सिद्ध होता है कि तप ही सर्वोपरि साधन नहीं है, प्रत्युत धर्मपूर्वक वर्णाश्रम-कर्तव्योंका यथावत् पालन और निष्कामतापूर्वक जीवन-यापनका कर्मयोगी जीवन आदरणीय है।

[महाभारत, शान्ति० २६१। २६४]

नवीन विशिष्ट प्रकाशन—शीघ्र प्रकाश्य

श्रीमद्भगवद्गीता [सचित्र, ग्रन्थाकार] मराठी—प्रस्तुत ग्रंथ हिन्दी तथा गुजरातीके बाद अब मराठीमें भी प्रसंगानुकूल 129 आकर्षक चित्रोंके साथ चार रंगोंमें आर्ट पेपरपर पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रथमोऽध्यायः

वेदव्यासजीद्वारा संजयको दिव्यदृष्टि

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥

धृतराष्ट्र म्हणाला, हे ... असलेल्या कुरुक्षेत्रात युद्धाच्या इच्छेने एकत्र जमले ... ? (१)

श्रीमद्भगवद्गीता (मराठी)
के एक पृष्ठका नमूना (कोड 2271)
मूल्य ₹ 250, डाकखर्च ₹ 70

दृष्ट्वा तु ... धनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥

संजय म्हणाला, तेव्हा राजा दुर्योधनाने व्यूहरचना केलेले पांडवांचे सैन्य पाहिले आणि द्रोणाचार्यांजवळ जाऊन तो म्हणाला. (२)

१५

नोट : बंगला तथा तेलुगुमें भी शीघ्र प्रकाशित करनेकी योजना है।

प्र० ति० 20-07-2021
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० 2308/57 पंजीकृत संख्या—NP/GR–13/2020–2022
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE No. WPP/GR–03/2020–2022

नवीन-प्रकाशन
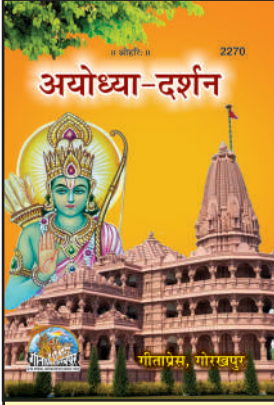
अयोध्या-दर्शन (कोड 2270)—तीर्थयात्रियों एवं प्रेमी पाठकोंके आग्रहको ध्यानमें रखते हुए '**अयोध्या-दर्शन**' नामक यह पुस्तक प्रकाशित की गयी है। इसमें जहाँ एक ओर अयोध्याके शास्त्रीय महत्त्व एवं ऐतिहासिक विवरणोंको देनेका प्रयास किया गया है, वहीं साथमें अयोध्याके प्रमुख दर्शनीय तीर्थस्थानोंका संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। पुस्तक अनेक सुन्दर रंगीन चित्रोंसे युक्त है। पुस्तकमें अयोध्याप्रेमी शोधार्थियों और विद्वानोंके लिये कुछ विशेष उपयोगी गम्भीर लेखोंको भी स्थान दिया गया है तथा अन्तमें अयोध्याके वैरागी सन्तों, भक्तों एवं तीर्थयात्रियोंके बीच परम्परागत रूपसे प्रचलित स्तुतियों आदिका संकलन भी किया गया है। मूल्य ₹ 25

'कल्याण' के पुनर्मुद्रित उपलब्ध विशेषाङ्क

कोड	विशेषाङ्क	मूल्य ₹	कोड	विशेषाङ्क	मूल्य ₹	कोड	विशेषाङ्क	मूल्य ₹
41	शक्ति-अङ्क	200	1133	सं० श्रीमद्देवीभागवत	300	1131	कूर्मपुराण—सानुवाद	150
616	योगाङ्क (परिशिष्टसहित)	330	789	सं० शिवपुराण	250	1044	वेद-कथाङ्क-परिशिष्टसहित	220
636	तीर्थाङ्क	230	631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	250	1132	धर्मशास्त्राङ्क	200
604	साधनाङ्क	300	653	गोसेवा-अङ्क	160	1189	सं० गरुडपुराण	200
1773	गो-अङ्क	200	1135	भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	200	1592	आरोग्य-अङ्क	260
44	संक्षिप्त पद्मपुराण	300				1610	महाभागवत (देवीपुराण)	150
539	संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण	120	572	परलोक-पुनर्जन्माङ्क	220	1793	श्रीमद्देवीभागवताङ्क-पूर्वार्द्ध	100
1111	संक्षिप्त ब्रह्मपुराण	150	517	गर्ग-संहिता	180	1887	,, ,, अजिल्द उत्तरार्ध	75
43	नारी-अङ्क	300	1113	नरसिंहपुराणम्-सानुवाद	120	1985	श्रीलिङ्गमहापुराणाङ्क-सानुवाद	250
659	उपनिषद्-अङ्क	250	1362	अग्निपुराण	260			
279	सं० स्कन्दपुराण	425	1432	वामनपुराण-सानुवाद	180	2066	श्रीभक्तमाल-अङ्क	250
40	भक्त-चरिताङ्क	300	557	मत्स्यमहापुराण (सानुवाद)	300	1980	ज्योतिषतत्त्वाङ्क	150
1183	सं० नारदपुराण	250	657	श्रीगणेश-अङ्क	200	2125	श्रीशिवमहापुराणाङ्क-पूर्वार्ध	140
667	संतवाणी-अङ्क	250	42	हनुमान-अङ्क (परिशिष्टसहित)	200	2154	,, ,, -उत्तरार्ध	140
587	सत्कथा-अङ्क	230	1361	सं० श्रीवाराहपुराण	150	2235	श्रीराधामाधव-अङ्क	140
574	संक्षिप्त योगवासिष्ठ	200	791	सूर्याङ्क	150	2259	बोधकथाङ्क	140